हिन्दी उपन्यास कला

हिन्दी उपन्यास कला

लेखक

डॉ० रामलखन शुक्ल

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७

समर्पण

चिन्ता को

रामलखन शुक्ल

दो शब्द

'उपन्यास-कला' को दो खडो मे प्रस्तुत किया गया है। प्रथम खड मे सैद्धान्तिक चर्चा है और द्वितीय मे कुछ उपन्यासो के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गई हैं। समस्त प्रतिनिधि उपन्यासो के सम्बन्ध मे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नही कर पाया हूँ। सभव हैं भविष्य मे ऐसा कुछ हो सके।

यदि विद्वज्जनो को मेरे इस प्रयत्न से किंचित् भी सतोष प्राप्त होगा तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

वसत पचमी, स० २०५५

—रामलखन शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम खंड—उपन्यास-कला-सिद्धान्त

द्वितीय खंड—प्रतिक्रियाएँ

प्रथम खंड

उपन्यास : परिभाषा और विशेषता

हिन्दी साहित्य मे उपन्यास भी कुछ नवीनतम विधाम्रो मे से एक है । अग्रेजी मे जिसे नॉवेल, कहते है, बगला मे उसे 'उपन्यास' नाम से अभिहित किया जाता है और बंगला के समान ही हिन्दी मे यह विधा उपन्यास नाम से प्रचलित है। अंग्रेज़ी मे 'नॉवेल' शब्द लैटिन 'Novus' शब्द से व्युत्पन्न हो कर आयी है। 'Novus' का शाब्दिक अर्थ नवीन होता है। अग्रेज़ी में 'नॉवेल' शब्द कुछ दिनो तक 'नवीन' और 'लघु गद्य कथा' दोनो अर्थ को द्योतित करता था, किन्तु अठारहवी शताब्दी के पश्चात् साहित्य विधा के रूप मे यह प्रतिष्ठित हो गया और आज जिस अर्थ मे उसका प्रयोग होता है, वह अर्थ भी निश्चित हो गया। इतालवी भाषा मे 'नॉवेला' (Novella) शब्द लघु कथा के लिए प्रयुक्त होता है । अग्रेज़ी का 'नॉवेल' शब्द प्रत्यक्षतः 'नॉवेला' से प्रभावित है जो 'Novus' से व्युत्पन्न हुआ है । इतालवी शब्द 'नॉवेला' का अर्थ पारम्परिक से प्रतिकूल मौलिक कहानी ही नही होता, वरन् वह कहानी होता है जो वर्तमान मे ही घटित हो अथवा जिसे घटित हुए अधिक समय न हुआ हो । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नॉवेल नवीनता का द्योतन तो कराता ही है, साथ ही वह इस तथ्य का भी द्योतन कराता है कि उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे वर्तमान जीवन से है। इस सामान्याभिधान का कुछ अश अब भी विद्यमान है : उपन्यास जो सुदूर भूत के समय का चित्रण करता है, उसे ऐतिहासिक उपन्यास कहते है। यह एक विशिष्ट नाम है और सभवतः इसे विशिष्ट नाम इसलिए दिया जाता है कि यह विशिष्ट वस्तु का निरूपण करता है। यह सभवतः इस रूप मे इस कारण से ग्रहण किया जाता है कि इसमे जिन वस्तुओ का निरूपण होता है, उनकी वास्तविकता सदिग्ध ही रहती है क्योकि उन्हे न तो लेखक ने और न तो पाठको ने ही प्रत्यक्ष रूप मे अनुभूत किया है। 'नवीन' अर्थ को प्राधान्य देने के कारण गुजराती के विद्वान 'नॉवेल' को नवल कथा कहते है और उर्दू साहित्य में 'नॉवेल' शब्द ही ग्रहण कर लिया गया है। मराठी मे 'नावेल' को 'कादबरी' कहते है। सस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'कादबरी' की रोचकता, सरसता और

कथावस्तु के आधार पर यह नामकरण हुआ है जो एक ओर परम्परा का प्रकाशन करता है तो दूसरी ओर 'नॉवेल' की मूलभूत विशेषता की ओर इगित करता है। हिन्दी मे व्यवहृत उपन्यास शब्द से भी कतिपय विशेषताओ का बोध होता है। उपन्यास —उप+नि+अस+ घञ—के योग से बना है, जिसके अनेक अर्थ है : निकट रखना, धरोहर, अमानत, वक्तव्य, प्रस्ताव, सुझाव, भूमिका, प्रस्तावना, सकेत, उल्लेख आदि। 'उप' उपसर्ग मे निकट का बोध होता है और 'न्यास' थाती या धरोहर का बोधक है। सामान्य अर्थ यह ग्रहण किया जा सकता है कि मनुष्य के निकट रखी हुई वस्तु। वर्तमान सदर्भ मे इसका अर्थ-विस्तार हो गया है—वह वस्तु या कृति जिसको पढकर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमे हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसमे हमारी ही कथा हमारी भाषा मे कही गई है। आधुनिक युग मे जिस साहित्य विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने मे यह शब्द सर्वथा समर्थ है। यों तो उपन्यास शब्द का प्रयोग प्राचीन सस्कृत साहित्य मे भी है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे इसका उल्लेख प्रतिमुख सधि के एक उपभेद के रूप मे करते हुए इसे 'उपपत्तिकृतोह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' कहा है, अर्थात किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से उपस्थित करने वाला तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला। अतः यह स्पष्ट है कि उपन्यास हमारे लिए कोई नूतन शब्द नही है और गुणाढ्य की 'बृहत् कथा', 'पचतत्र', 'बौद्ध जातक कथाओ' तक मजे में इसके सूत्र को खीच ले जाया जा सकता है।......परन्तु हम दोनो को एक नही कह सकते। उपपत्तिकृतत्व और प्रसादनत्व इन दोनो मौलिक गुणो की रक्षा करते हुए भी उपन्यास ने अपने क्षेत्र को इतना व्यापक कर लिया है कि दोनो में गुणात्मक अतर आ गया है। (हि०सा०को० भा० १)

'ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी' मे नॉवेल का अर्थ है : एक काल्पनिक गद्यात्मक कथा या कहानी जो यथेष्ट लम्बी हो और जिसमे यथार्थ जीवन के प्रतिनिधि पात्र और क्रियाएँ कम या अधिक जटिल प्लॉट में चित्रित की जाती हैं।

उपन्यास निस्सदेह काल्पनिक साहित्यिक विधा है, तो भी इसकी विषय-वस्तु प्रायः यथार्थ घटनाओ से गृहीत की जाती है और लेखक जो वर्णनात्मक प्रणाली अपनाता है, वह मूलतः यथार्थ का वातावरण निर्मित करती है। उपन्यास का द्वैत महाकाव्य से सर्वथा विपरीत होता है जो यदि पूर्णतः ऐतिहासिक नही होता तो कुछ सीमा तक अकाल्पनिक अवश्य होता है। यद्यपि महाकाव्य का विषय पौराणिक ही होता है और इसमे जो वर्णनात्मक प्रणाली अपनाई जाती है वह विश्वसनीयता पर अधिक बल नही देती। उपन्यास और महाकाव्य मे जो वैषम्य है वह ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक स्पष्ट है : उपन्यास का उदय सभ्यता के अधिक विकसित स्तर पर हुआ है और औपन्यासिक दृष्टि तथ्य और कल्पना के पारस्परिक अंतर पर अधिक रही है।

नामातर अवश्य है और प्रत्येक मे अपनी-अपनी विशेषताएँ है, किन्तु यहाँ पर दोनो का अन्तर दिखाना अवाछनीय नही है। भारतीय परम्परा मे अवस्था के साथ सधियाँ और अर्थप्रकृतियाँ भी है, जो सब मिलकर कथा-वस्तु को गठित रूप प्रदान करती है, परन्तु उपन्यास का कथानक नाटक के कथानक के समान नही होता। इस कारण उसमे अवस्थाओ, सधियो और अर्थप्रकृतियो की खोज करना निरर्थक है। कुछ सीमा तक अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती है, किन्तु वे उस रूप मे नही प्राप्त की जा सकती, जिस रूप मे वे नाटको मे प्राप्त होती है।

कथानक का विषय—जीवन और जगत् अत्यन्त विस्तीर्ण है और कलाकार की प्रतिभा उसके भीतर प्रवेश करने की शक्ति रखती है। इसमे कोई सदेह नही कि जीवन और जगत् की तुलना मे व्यक्ति कलाकार अत्यन्त छोटा है। वह उसकी अतल गहराई तक पहुँचने मे असमर्थ है। निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी वह विराट विश्व के प्रच्छन्न मुक्त समस्त तत्त्वो को ग्रहण नही कर सकता और उन सबको अपनाकर अपनी अनुभूति के कोश मे सुरक्षित नही रख सकता, पर वह कुछ निजी अनुभूति के सहारे और कुछ दूसरो की अनुभूति के सहारे विराट् विश्व के रहस्यमय तत्त्वो को समझ सकता है तथा अपने कल्पना-सम्बल के सहारे उनका मनोरम चित्र प्रस्तुत कर सकता है। उसके सामने ही जो ससार है, जिसका वह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है, वही इतना विशाल और व्यापक है कि वह उसे सहस्रो उपन्यास का कथानक दे सकता है। कलाकर के पास परखने की आँखे होनी चाहिए, नदियाँ अपने कलकल-छलछल निनाद मे अपनी कहानियाँ सुना सकती हैं, सागर तरल लहरो के माध्यम से अपने जीवन का उद्‌गीथ गा सकता है, पर्वत अपने उत्तुग शिखरो पर लहराती बल खाती हवा से प्रणय-निवेदन कर सकता है, नगर अपनी गाथा सुनाने के लिए व्यग्र हो उठेगा, गाँव रस ले लेकर आप बीती सुनाएगा; धूल कुछ कहने को उत्सुक हो उठेगी, पत्थर की शिला तडपडा उठेगी; कण-कण बोल उठेगा, जर्रा-जर्रा काँप उठेगा। किन्तु उसके पास आँखे चाहिए, कलात्मक आँखे, जिनसे वह यह सब सुन सके और पहचान सके। सारा जीवन ही कथानको से भरा हुआ है और प्रत्येक कथानक प्रभविष्णु और सवेदनशील है। निर्माता शिल्पी उसे अपनी गति दे सकता है, अपनी चेतना दे सकता है। अतत: दृष्टि उसी की होती है और वही दृष्टि कथानक के रूप को ढालती और सँवारती है। अत: कभी यह सोचना कि विषय नही है, समस्या नही है, केवल आत्म-दौर्बल्य व्यक्त करना है। आँखे पैदा करो दीदार हो ही जाएगा। सचमुच देखने के लिए आँखे चाहिए। प्रेमचन्द उपन्यास के कथानक के स्रोत के बारे में कहते हैं—"अगर लेखक अपनी आँखे खुली रखे, तो उसे हवा मे भी कहानियाँ मिल सकती है। रेलगाडी मे, नौकाओ पर, समाचार पत्रो मे, मनुष्य के वर्त्तालाप मे और हजारों

जगहो से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं।....'' ''उपन्यासों के लिए पुस्तको से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए।'' (कुछ विचार, पृष्ठ ८५)

कभी-कभी लेखक ऐसा सोचते है कि पहले के लेखको ने अधिकाश कथानक-स्रोतों को जूठा कर दिया है। उनके लिए ऐसा कुछ भी शेष नही है, जिस पर वे अपनी लेखनी चला सके। यह वस्तुतः लेखक की अपनी असमर्थता का उद्घोष है। पहले विषयो और समस्याओ का अभाव नही है। प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती है, जिन्हे लेखक अपने कथानक का विषय बना सकते है और जो सार्वजनीन, सवेदनशील विषय है, उनमे युगानुरूप कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि उनका मूल रूप अक्षुण्ण बना रहता है। लेखक सार्वजनीन, सवेदनशील विषय को अपने युग के परिप्रेक्ष्य मे अपनी दृष्टि से देखेगा। यदि वह अपने युग के परिप्रेक्ष्य मे अपनी दृष्टि से, यदि उसके पास कोई दृष्टि हो, देख सका तो विषय का कथानक भिन्न होगा और यही उसकी नवीनता होगी। साथ ही पूर्वापेक्षा आज का जीवन जटिलतर है। आज ऐसी-ऐसी समस्याएँ है, ऐसे-ऐसे जटिल विषय हैं, जिनकी पूर्ववर्ती लेखको ने कल्पना भी नही की होगी और वर्तमान जटिल-विषम समस्याओ और विषयो ने लेखक-कर्म को और अधिक जटिल और दुरूह बना दिया है। अतः उनका सामना करना लेखक का प्रमुख कर्तव्य है। युग की चुनौती को यदि वह स्वीकार कर सकेगा, तभी वह अपने दायित्व का सम्यक् निर्वाह कर सकेगा। ऐसी स्थिति मे विषयाभाव की बात करना मात्र अपनी बुद्धि के दिवालियेपन का उद्घोष करना है।

उपन्यास का कथानक किसी भी स्रोत से ग्रहण किया जा सकता है। कथानक किसी प्रकार की घटना से निर्मित हो सकता है। यह आवश्यक नही है कि कथानक की निर्मिति किसी यथार्थ घटना पर ही आधृत हो, क्योकि कथानक का निर्माण कला के स्वनिर्मित विधान के अनुसार होती है और कला यथार्थ की प्रतिकृति नही है। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह किसी भी प्रकार के कथानक का अपनी रचना के लिए उपयोग क्यो न करे, किन्तु यह ध्यान रखे कि उस कथानक का निर्माण परम्परा-विहित विधान के अनुसार हो और यदि ऐसा न भी हो, तो भी कथानक का निर्माण ऐसा होना चहिए जो विश्वसनीय हो। किसी प्रकार का कथानक क्यो न हो, पर विश्वसनीयता उसकी सत्यता की कसौटी है। यथार्थ घटना पर आधृत कथानक यदि विश्वसनीय सिद्ध नही हुआ तो कला की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण नही है और यदि कल्पित घटनाओ पर आधृत कथानक विश्वसनीयता की कसौटी पर खरा उतर गया तो वह कला की दृष्टि से अधिक उपादेय सिद्ध होता है। कलाकर असभाव्य को भी इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि वह सभाव्य प्रतीत हो। कलाकार को वस्तुतः सिद्धहस्त मिथ्यावादी होना चाहिए, परन्तु मिथ्या की प्रस्तुति इस रूप मे करनी चाहिए

कि उसमे कही से भी अविश्वसनीयता की गध न आ सके ।

बहुत से आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि कथानक का सत्य होना आवश्यक होता है । किन्तु सत्य कथानक को भी असफल कलाकार प्रभावहीन बना सकता है। कला का विषय केवल सत्य ही नही है, वरन् सत्य की सभावना है । उपन्यासकार इतिहास लेखक नही है कि वह अपनी रचना मे तथ्य का आकलन प्रस्तुत करे, वरन् वह तो कलाकार है और वह अपनी रचना मे कलात्मक सत्य (औपन्यासिक सत्य) की प्रस्तुति करता है । कलात्मक सत्य का विषय 'है' नही है, 'हो सकता है' है । कलात्मक सत्य 'अस्ति' पर जोर न देकर सभावना पर जोर देता है कथानक असभाव्य को भी संभाव्य रूप मे प्रस्तुत कर सकता है और इसी मे उसकी कलाकुशलता निहित है । परन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यह नही है कि सत्य या यथार्थ घटना कला का विषय नही बन सकती । कैसी भी घटना क्यो न हो, वह कला का विषय बन सकती है, परन्तु कला का विषय बनने पर उसे कला के विधान से अनुशासित होना पडेगा और प्रत्येक प्रकार के कथानक का विश्वसनीय होना अनिवार्य है ।

साहित्य मानव-जीवन का ही प्रतिबिम्बन है । मानव-जीवन ऊपर से कितना ही व्यवस्थित क्यो न प्रतीत हो, किन्तु वह व्यवस्थित नही है । वह अनेक प्रकार की आकस्मिकताओ से घिरा हुआ है । हम उसे आकस्मिकताओ का पुज कह सकते है । इसी प्रकार कथानक भी पूर्णतया ऋजु-सरल और चतुरस्र नही हो सकता । यथार्थता के साथ वह आकस्मिकताओ से भी युक्त रहता है । यदि उसमे आकस्मिकताएँ न हों, तो पाठको को प्रभावित करने की शक्ति भी नही रहेगी । कथानक की आकस्मिकताएँ कभी-कभी ऐसी होती हैं कि कथानक का सारा प्रवाह ही किसी अन्य दिशा मे अभिधावित होने लगता है । वह कथानक अत्यधिक प्रभविष्णु बन पाता है, जिसमे सार्वजनीनता और सार्वकालिकता के साथ असाधारणता का सामजस्य रहता है । असाधारणता अप्रत्याशित किन्तु स्वाभाविक मोडो और आकस्मिकताओ के माध्यम से निर्मित होती है । आश्चर्य और कुतूहल का सृजन इस प्रकार के वस्तु-सघटन से ही सभव है । लेखक को आकस्मिकताओ के प्रयोग मे अतिरेक से बचना चाहिए और घटना-प्रवाह की स्वाभाविकता को बनाए रखना चाहिए ।

कथानक की मौलिकता—सारा जीवन और जगत् ही उपन्यास का विषय है । जीवन जटिल है और निरन्तर जटिल होता जा रहा है । जीवन और जगत् की समस्याएँ असख्य है और निरन्तर बढती जा रही है । पहले भी समस्याएँ थीं, आज भी है और कल भी रहेगी। कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं, जिन्हे हम सामयिक कह सकते है और कुछ ऐसी होती हैं जो अपना शाश्वत् महत्व रखती है । सभ्यता के ऊपरी स्तर की समस्याएँ सामयिक होती है और मानव-वृत्तियो

से सम्बद्ध समस्याएँ शाश्वत और सार्वकालिक होती हैं। उनका बाह्य रूप युगानुरूप परिवर्तित होता रहता है, पर उनका मूल स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। ऐसी समस्याओ मे सबसे महत्वपूर्ण तत्व है प्रेम-तत्व और इसके अनन्तर भूख। विश्व साहित्य का सभवतः नब्बे प्रतिशत साहित्य प्रेम-तत्व से सम्बन्धित है। भूख की समस्या भी सार्वकालिक ही है, पर आधुनिक युग मे इसकी ओर कलाकारो और लेखको का ध्यान अधिक गया है। सामयिक समस्याओ को भी मानव की मूलवृत्तियो से सम्बद्ध करके सार्वकालिक बनाया जा सकता है। जीवन के किसी पक्ष को लेकर चलने वाला कथानक तब तक मौलिक कहा जा सकता है, जब तक लेखक किसी अन्य लेखक के कथानक का अधानुकरण न करने लगे। एक ही कथानक को दो लेखक अपने उपन्यास का विषय बना सकते है। दोनो मे अपने विशेष दृष्टिकोण के कारण मौलिक अतर आ जाएगा। मौलिकता लेखक के दृष्टिकोण और प्रतिपादन-शैली मे निहित है। किन्तु किसी एक घिसी-पिटी लकीर पर चलने की तुलना मे स्वय अपने पथ का निर्माण करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जो जीवन-जगत् के समस्त तत्वो को समझते हुए किन्ही विशिष्ट किन्तु अन्य की आँखो से अस्पष्ट तत्व को ग्रहण कर उसके आधार पर अपने कथा-ततु की निर्मिति करता है, वह वस्तुतः मौलिक लेखक है। उच्च कोटि के लेखक प्रायः दूसरे लेखको द्वारा गृहीत कथानको को न ग्रहण कर स्वतः अपने कथानको का निर्माण करते है और यदि कभी किसी कारणवश ग्रहण भी करते है तो उन्हे अपनी प्रतिभा के स्पर्श से नया रूप दे देते हैं। जीवन मे घटनाओ का ऐसा व्यूह है कि उनके आधार पर असख्य कथानको का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु उन्हे पहचानने की दृष्टि चाहिए और यह दृष्टि प्रतिभा-सम्पन्न लेखको के पास स्वभावतः होती है। मौलिक कथानक लेखक के दृष्टिकोण और प्रतिपादन-शैली के कारण बहुत ही स्वाभाविक रूप मे विकसित होते है और पाठको पर उनका प्रभाव बहुत ही अच्छा पडता है। एक ही कथानक कई लेखको से प्रयुक्त होकर लेखको की गुणवत्ता और विशेषता का परिचायक हो जाता है। उससे किन्ही दो लेखको की जीवन-दृष्टियो और प्रतिपादन-शैलियो का स्पष्ट अतर परिलक्षित हो जाता है।

कथानक मे पाठको के कुतूहल को बनाए रखने की क्षमता होनी चाहिए। कुतूहल मानव की आदिम वृत्ति है और बहुत ही सतही वृत्ति है। सनसनीखेज रचनाएँ कुतूहल जागरित करने मे अधिक सफल सिद्ध हो सकती हैं और उच्चकोटि की रचनाओ मे इस ओर ध्यान नही दिया जाता; किन्तु किसी न किसी रूप मे कुतूहल का होना आवश्यक होता है। उपन्यास मे 'और तब' का प्रश्न न होकर 'क्यो' का प्रश्न होता है। 'क्यो' कुतूहल के औदात्य का सकेतक है। लेखक की रचना मे जो रहस्यात्मकता होती है और समस्याओ के जो अनेक मोड होते है वे सब पाठक के कुतूहल के

पोषक तत्व होते हैं, किन्तु जब उपन्यास में ऐसे तत्वों का ह्रास हो जाएगा तो उपन्यास की रोचकता बाधित हो जाएगी। रचना पढ़ने मे पाठक का कुतूहल तब भी बना रहता है, जबकि लेखक रोचक और सरस शैली में अपनी रचना प्रस्तुत करे। उपन्यास की शैली सामान्य स्थिति मे आकर्षक और सहज होनी चाहिए, भाषा में यथेष्ट प्रवाहमयता होनी चाहिए, अन्यथा कुतूहल जागरित करने के समस्त तत्व के होते हुए भी उपन्यास अपेक्षित रूप मे समादृत नही हो सकेगा।

आकस्मिकता और अप्रत्याशित घटना-वृत्ति भी कुतूहल को जागरित करने में सहायक होती है। लेखक कार्य-कारण-शृंखला मे ही उनका नियोजन कर सकता है; किन्तु कुतूहल को बनाये रखने के लिए आवश्यक रूप मे आकस्मिकता अथवा अप्रत्याशित घटना का सृजन उपन्यास के स्वाभाविक विकास मे बाधक होता है और लेखक को ऐसे प्रयत्न से विरत रहना चाहिए।

कथानक के निर्माण मे लेखक का कौशल विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। कथानक की पूर्णता पर उसको अपेक्षित ध्यान देना होता है। जिस रूप मे कथानक का आरम्भ हो उसी रूप मे उसका अन्त भी होना चाहिए। सामान्यतः लेखक आरम्भ के समय उत्साह से लबालब भरा रहता है। इस कारण वह अपनी रचना का भव्य और उदात्त आरम्भ करता है। कथानक को अत्यन्त परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत करता है। एक सीमा तक उसका उत्साह बना रहता है और वह धीरे-धीरे परिक्षीण होने लगता है। इसका प्रभाव उसके कथानक के स्वाभाविक विकास पर पडता है। उसमे परिसमाप्ति की अनावश्यक आतुरता उत्पन्न हो जाती है और वह घटना-क्रम के विकास को समेटने का प्रयत्न करने लगता है। परिणाम स्पष्ट है। कथानक का समुचित निर्वाह नही हो पाता। बडे से बडे उपन्यासकार मे इस प्रकार की दुर्बलता परिलक्षित होती है। कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं कि वे आरम्भ अत्यन्त सुन्दर रूप मे कर लेते है और अतिरिक्त उत्साह के कारण घटना-चक्रो का विशाल ताना-बाना बुन लेते है, किन्तु आगे चलकर उस विशाल फलक को सँभाल नही पाते और उनका सारा आयोजन पथभ्रष्ट हो जाता है। कथानक का समंजस विकास और पूर्णता बहुत ही आवश्यक है, पर विरल रचनाओ मे ही वह प्राप्त होती है। बडी रचनाओ की तुलना मे छोटी रचनाओ मे वह अधिक सम्भव है, क्योकि छोटी रचना के कथानक की स्वाभाविकता को बनाए रखना अधिक सहज है।

कथानक और चरित्र का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मूल कथानक है अथवा चरित्र, इसका उत्तर देना कठिन है। दोनो की अन्योन्याश्रयता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कथानक से चरित्र का विकास हो और चरित्र से कथानक का। कार्य-व्यापार का स्वरूप ही ऐसा हो कि उससे चरित्र विकसित होता जाए और चरित्र का स्वरूप ऐसा

हो कि उससे कथानक निकलता हुआ प्रतीत हो। जो घटना प्रधान उपन्यास होते हैं, उनमे कथानक ही प्रधान होता है और चरित्र गौण तथा चरित्र प्रधान उपन्यास होते है, उनमे चरित्र प्रधान होता है और कथानक गौण; किन्तु कथानक गौण भले ही हो उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना रहता है, क्योकि चरित्र का विकास कथानक के रूप को सुरक्षित रखता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे पात्रो की मनोभूमि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। लेखक मनोविश्लेषण के आधार पर अपने पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकाशित करता है। ऐसे उपन्यासो मे कथा-तंतु अत्यन्त क्षीण होता है, किन्तु आतरिक कार्य-व्यापार की प्रधानता के कारण उसका अत्यन्त ह्रास नही हो पाता और मेरुदड के समान वह समस्त औपन्यासिक ढाँचे को सँभाले रहता है, क्योकि उसके सर्वथा अभाव से औपन्यासिक ढांचा ही धराशायी हो जाएगा।

कथानक की रूप-रचना भी विचारणीय है। अरस्तू ने कार्य-व्यापार की एकता और पूर्णता पर बल दिया है। कार्य-व्यापार ऐसा होना चाहिए जो स्वतः पूर्ण हो और उसमे अन्विति हो। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि कार्य-व्यापार एक ही हो। कई कार्य-व्यापार हो सकते है, पर मुख्य कार्य-व्यापार के सहायक रूप मे ही वे आ सकते है। आधिकारिक कथानक महानद के समान होता है जिसे पूर्ण बनाने मे प्रासगिक कथानक सहायक नदियो के समान सहयोगी होते है और प्रमुख कार्य-व्यापार को और अधिक प्रभावशाली बनाते है। उपन्यासो का कार्य-व्यापार आतरिक होता है, इस कारण जटिल कार्य-व्यापार उसकी अन्विति मे बाधक नहो हो सकता। आधु-निक मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे कुछ ऐसे उपन्यास है, जिनमे कार्य-व्यापार की अन्विति नही है। इस अभाव के कारण उन उपन्यासो की प्रभावान्विति बाधित अवश्य हुई है। उनमें व्यतिक्रम मे जीवन को देखने का प्रयत्न किया गया है। तथापि कथा-वस्तु की क्षीण रेखा किसी न किसी रूप मे दृष्टिगत होती है। उसकी गति लहरदार है और वह घडी के पेंडुलम के समान कभी आगे तो कभी पीछे मुडती, रुकती, लहराती, बल खाती सरकती रहती है। थोडी ही दूरी मे उसका चक्र पूरा हो जाता है। अन्विति की उपेक्षा होते हुए भी गति का त्याग नही है, क्योकि गति के बिना मृत्यु का आह्वान है और गति कथानक की ओर ले जाती है जो स्थानिक कम है, किन्तु कालिक तो है ही। सामान्य रूप मे कार्य-व्यापार की अन्विति औपन्यासिक रचना-विधान का स्पृहणीय तत्त्व है।

कुछ ऐसे विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि उपन्यास के कथानक का विन्यास सुव्यवस्थित और सघटित होना आवश्यक नही है। जिस प्रकार जीवन का कोई व्यवस्थित स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार उपन्यास का भी कोई व्यवस्थित स्वरूप नही

होना चाहिए। अन्य कलाओ मे जिस प्रकार की शुद्धता का आंदोलन चला है, उसी प्रकार की शुद्धता उपन्यास के क्षेत्र मे लाने के लिए आन्द्रे जीद जैसे लेखक उपन्यास को भी उन समस्त तत्वो से मुक्त करना चाहते हैं, जो विशिष्ट रूप मे उपन्यास के लिए अनिवार्य नही हैं। उनकी दृष्टि मे घटनाओ, सयोग और दुर्घटनाओ आदि के लिए उपयुक्त स्थान सिनेमा है, उपन्यास नही। (हि० सा० को०)

वर्जिनिया वुल्फ भी उपन्यास को व्यवस्थित और संघटित रूप देना आवश्यक नही समझती। उनकी दृष्टि मे उपन्यास यदि जीवन का चित्र है तो उसे जीवन के समान ही विश्रृंखलित और अव्यवस्थित होना चाहिए। उनका विचार है कि जिस प्रकार मन मे अनेक प्रकार के भाव उदित होते है और उनका कोई क्रम नही होता, उसी प्रकार उपन्यास की क्रिया का विकास भी बिना किसी क्रम के होना चाहिए। सामान्य स्थिति मे वे उपन्यास को जीवन का चित्र भी स्वीकार नही करती। उनकी मान्यता है कि यदि लेखक अपनी रचना को अपनी भावना पर ही आधृत करे और परम्परा को छोड़ दे तो उसकी रचना का कोई कथानक नही होगा, कोई त्रासदी या कामदी नही होगी, प्रेम और सघर्ष की स्वीकृत परम्परा के अनुसार कोई घटना नही होगी। जीवन क्रम मे व्यवस्थित वस्तुओ का कोई क्रम नही है, जीवन प्रकाशमय तेजोदीप्त आनन्द का आलोक है, एक अर्द्ध-झिलमिलाता रहस्यमय कवच है जो हमे चेतना के आरम्भ से अन्त तक घेरे हुए है। उपन्यास का क्षेत्र यही रहस्यमय चेतना है, जिसमे लेखक किंचित् बाह्य तत्वो को समाविष्ट कर लेता है।

वर्जिनिया वुल्फ ने अतश्चेतना और वैयक्तिकता के आधार पर जीवन को नकारने का प्रयत्न किया है और व्यक्ति की चेतना को ही प्रधानता दी है। वैयक्तिकता का भाव स्मृति पर निर्भर करता है और स्मृति समय पर निर्भर करती है। उच्च चेतना के क्षण विगत क्षणो से आते है। इस प्रकार पौर्वापर्य सम्बन्ध बाह्य न सही, किन्तु आतरिक बना रहता है और अनन्तता का तीव्र बोध होता है। इस प्रकार उपन्यास की कथा-वस्तु अतश्चेतना के प्रवाह की कालिक मर्यादा को बाँधने का यत्न करती है, जिसमे अन्विति का अभाव तो होता है, किन्तु कार्य-व्यापार का अभाव नही होता। वह बाह्य न होकर आतर होता है और आतर होने के कारण उसका सारा रूप सूक्ष्म और तरगमय होता है। तारतमिक कथानक नही होता, उसकी अत्यन्त परिक्षीण रेखा विद्यमान रहती है, जिससे पाठक पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर चेतना के व्यापार को ग्रहण कर पाता है। यह ग्रहण सायास होता है, किन्तु होता अवश्य है।

कल्पना का तत्त्व अंतश्चेतना के प्रवाह मे भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न

करता है और संवेग की स्थिति असंदिग्ध है ही। कल्पना और सवेग के आतरिक तर्क से यह नही सिद्ध होता कि उपन्यासकार कहानी अथवा कथानक के बिना काम चला सकता है, क्योंकि इन्ही के सहारे उसकी कृति के ढाँचे का निर्माण होता है। अतः हम कह सकते है कि लेखक कथानक से मुक्त होने के लिए कितना ही क्यो न छटपटाए, किन्तु यदि वह उपन्यास को कला-कृति के रूप में प्रस्तुत करना चाहेगा और पाठक की सवेदना को प्रभावित करना आवश्यक समझेगा तो उसे किसी न किसी रूप मे कथा-तंतु का सहारा लेना पडेगा।

चरित्र-चित्रण

उपन्यास के तत्वो मे चरित्र-चित्रण का सर्वाधिक महत्त्व है। यदि कथानक उपन्यास का मेरुदड है तो चरित्र-चित्रण उसका प्राण है। सामान्यतः उपन्यास मानव-जीवन का चित्र है। उसमे लेखक जो कुछ प्रस्तुत करता है, वह किसी न किसी रूप मे मानव-जीवन से सम्बद्ध होता है। चाहे घटना की प्रधानता हो, चाहे वातावरण की प्रधानता, पर उनका सम्बन्ध किसी ऐसे तत्त्व से होता है जो उनमे विद्यमान रहता है। उसे पात्र कहते है। ये पात्र कौन हो सकते हैं, यह विषय विवाद का हो सकता है। कोई प्राणी हो सकता है, कोई जड पदार्थ भी हो सकता है, किन्तु उनके माध्यम से लेखक अपनी जीवनानुभूति को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। विभिन्न परिस्थितियो मे वह अपने पात्रो को रखकर उनके चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि जीवन का कोई स्थिर ढाँचा नही है, वह गत्यात्मक और परिवर्तनशील है। उपन्यास के पात्र यथार्थ जगत् के पात्र नही होते। वे तो लेखक की कल्पना की सृष्टि है। वे वस्तुतः जीवन और जगत् के प्रति लेखक के दृष्टिकोण के परिचायक होते है। लेखक अपने पाठको के सामने अपने कल्पना-व्यापार का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए जीवन के विविध आयामो को प्रस्तुत कर देता है, जिनका सर्वोत्तम पक्ष पात्रो के चारित्रिक स्वरूपो मे प्राप्त होता है। पात्रो का निर्माण नही होता, वरन् उनकी खोज होती है। यदि उपन्यासकार के पास अन्तर्दृष्टि है तो स्वयं अपने आप को उसके सामने प्रकाशित करते है। यह अन्तर्दर्शन उस समय होता है, जबकि लेखक रचना-वृत्ति मे तल्लीन होता है। अन्तर्दर्शन के बल पर वह जब किसी पात्र-विशेष की क्रियाओ की प्रस्तुति करता है, उस समय क्रियाओ का ऐसा रूप रहता है कि यह सहज अनुमेय नही होता कि क्रिया का विकास किस रूप मे होगा, किन्तु क्रिया का विकास जब अभिदर्शित हो जाता है तो वह सर्वथा अपरिहार्य प्रतीत होता है। क्रिया के आरम्भ मे अननुमेयता अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है और चरम सीमा की स्थिति के पश्चात् अपरिहार्यता अधिक प्रभावशाली होती है। उपन्यास मे पात्रो का स्पष्ट शारीरिक यथार्थ होना चाहिए।

उपन्यासकार मे शारीरिक संवेदनशीलता का जितना विस्तार होता है, वह उसी मात्रा मे शारीरिक यथार्थ को अभिव्यक्ति दे पाता है। शारीरिक व्यक्तित्व का सम्बन्ध क्रिया से होता है, उसे क्रिया से पृथक् नही किया जा सकता। सारा चित्र गति में ही होना चाहिए। आँख, हाथ, कद आदि को क्रिया-लीनता की स्थिति मे ही दिखाना चाहिए। शारीरिक व्यक्तित्व के प्रतिक्रिया क्रिया का ही अश है। प्रेम या यौन भाव इसी सामान्य नियम के लक्षित रूप हैं। उपन्यासकार को इन समस्त स्थितियो को अपनी रचना-प्रक्रिया के अवसर पर ध्यान मे रखना चाहिए। स्थिर या चतुरस्र (Flat) पात्र प्रभावशाली नही सिद्ध होते। उपन्यास की प्रभावशालिता को दृष्टि मे रखकर उपन्यासकार को अपनी रचना मे किसी चुम्बकीय पात्र की अवतारणा करनी चाहिए। ऐसा पात्र समस्त उपन्यास मे छाया रहता है और प्रभावान्विति को तीव्र-गभीर बनाता है।

पात्र सामान्यतः मनुष्य ही होते हैं। उपन्यासकार स्वय भी मनुष्य ही होता है इस कारण उसमे और उसके पात्रो मे अद्भुत साम्य होता है। कला की अन्य विधाओ मे इस प्रकार के साम्य का अभाव रहता है। इतिहासकार भी अपनी रचना से सम्बद्ध रहता है, किन्तु उतनी घनिष्टता से नही, जितनी घनिष्टता से उपन्यासकार रहता है। चित्रकार और शिल्पी का सम्बद्ध होना आवश्यक नही है। उपन्यासकार केवल प्रमाणो को आधारभूत तत्त्व मानकर नही चलता, वरन् वह अपने पात्रो के जीवन के प्रच्छन्न तत्त्वो को भी प्रकाशित करता है। उपन्यासकार जिस कहानी को अपनाता है, वह उतनी काल्पनिक नही होती, जितनी काल्पनिक वह प्रणाली होती है, जिससे वह अपने विचार को क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। वह अपने पात्र के बाह्य एव आतर दोनो पक्षो को अत्यन्त विशदता से व्यजित करता है। उपन्यास वस्तुतः कलाकृति है, जिसके अपने सिद्धान्त और नियम होते है। वे सिद्धान्त और नियम हमारे दैनन्दिन जीवन के सिद्धान्त और नियम के समान नही होते। उपन्यास का कोई पात्र तभी यथार्थ जगत् का पात्र प्रतीत हो सकता है, जबकि वह उन नियमो और सिद्धान्तों के अनुसार जीता है। उपन्यास का कोई पात्र तभी वास्तविक प्रतीत होगा, जबकि उपन्यासकार उसके सम्बन्ध मे सब कुछ जानता होगा, यह दूसरी बात है कि वह उसके सम्बन्ध मे सब कुछ बताना न चाहे। किन्तु वह हममे यह भावना उत्पन्न कर सकता है कि भले ही पात्र पूर्णतया व्याख्यायित न हो, पर वह व्याख्येय अवश्य है।

उपन्यासकार अपनी रचना मे पात्रो की खोज करता है, वह उनका निर्माण नही करता। इस खोज मे भी उसकी दृष्टि की ही प्रधानता रहती है। जीवन और जगत् के प्रति उसका जैसा दृष्टिकोण होता है और जीवन और जगत् की उसकी जैसी अनुभूति होती है, उसके पात्र उसी के आधार पर रूप पाते हैं। उपन्यासकार को यह

बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए कि वह चाहे जिस प्रकार के पात्र प्रस्तुत करे, किन्तु सजीव बनाए रखने का प्रयत्न करे, जिससे ऐसा न प्रतीत हो कि कोई पात्र-विशेष जीवन और जगत् के यथार्थ से भिन्न है। दुर्बल से दुर्बल पात्र मे कुछ सबलताएँ मिल जाती है और सबल से सबल पात्र मे कुछ दुर्बलताएँ। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने इसी बात को ध्यान मे रख कर कहा है—"चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नही कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषो मे भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती है। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियो का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नही होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती है। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह खेल, मनोरजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठको का मन बहलाना नही है। वह तो भाटो और मदारियों, विदूषको और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद कही इससे ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममे सद्भावो का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है, कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र 'पॉजिटिव' हो, जो प्रलोभनो के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करे, जो वासनाओ के पजे मे न फँसे, बल्कि उनका दमन करे, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओ का सहार करके विजयनाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रो का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पडता है।"

(कुछ विचार, पृष्ठ ७६-७७)

प्रेमचन्द ने आदर्श पात्रो की ओर सकेत किया है। यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसे पात्र भी हो सकते हैं जो आदर्श से सर्वथा विपरीत हो, फिर भी उनके क्रियाकलाप और व्यवहार से जीवन के असत् पक्ष का ऐसा मार्मिक चित्रण हो सकता है जो पाठक को असत् से बचने और सत् को अपनाने की प्रेरणा दे सकता है। ससार मे कोई दो व्यक्ति एक समान नही हो सकते। आचार-विचार, व्यवहार, रुचि-सस्कार सब के प्राय: भिन्न-भिन्न होते है। अत: उपन्यासकार इस वैभिन्य को अपनी रचना मे सफलता पूर्वक योजित कर सकता है और जीवन का ऐसा चित्र प्रस्तुत कर सकता है जो सजीव और प्रामाणिक प्रतीत हो। आदर्श अथवा यथार्थ के निर्माण की धुन मे उसे सजीवता को बलि-वेदी पर नही चढाना चाहिए। पात्रों का विकास उनके परिवेश और वातावरण मे ही दिखाना चाहिए, उनसे विच्छिन्न करके नही, अन्यथा उनकी स्वाभाविकता समाप्त हो जाएगी। परिस्थिति-विशेष मे पात्रो के चारित्रिक विकास

आकस्मिक नही होने चाहिए। जो कुछ परिवर्तन दिखाए जाएँ, उनका पूर्वक्रियाओ से सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। यह बात निश्चित है कि मानव का मानसिक व्यापार अत्यन्त जटिल और रहस्यमय होता है। कब, किन परिस्थितियो मे कैसी प्रतिक्रया हो सकती है, कुछ भी नही कहा जा सकता, किन्तु उपन्यासकार को अपने पात्रो के बारे मे सब कुछ जानना चाहिए, उनके प्राणो के हर एक स्पन्दन से परिचित होना चाहिए। तभी वह औचित्य का निर्वाह कर सकता है और उसके पात्र सजीव तथा यथार्थ जगत् के प्रतीत हो सकते हैं।

सारा काव्य-व्यापार कवि या लेखक का ही व्यापार है। वह अपनी इच्छानुसार अपनी विषय-वस्तु और पात्रो का सृजन करता है। सचमुच जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण का व्यवस्थापन ही उसकी रचना है, किन्तु वह उसे इस रूप मे व्यवस्थित करता है, जिससे वह यथार्थ जगत् का ही प्रतीत हो। इसीलिए वह पात्रो का सहारा लेता है। उसमे व्यवस्थापन की जितनी शक्ति होती है, उसके पात्र उतने ही यथार्थ जगत् के प्रतीत होते है। उसकी व्यवस्थापन की कला बहुत कुछ उसके जीवनानुभव पर निर्भर करती है। पात्रो का जीवन के अनुरूप होना तो वाछनीय होता ही है, किन्तु उनके चरित्र मे एकरूपता भी होनी चाहिए। चरित्र का विकास अननुमेय तो होना चाहिए, किन्तु जिस दिशा मे उसका विकास हो, वह अपिरहार्य प्रतीत हो। इसी कारण किसी भी पात्र के चरित्र मे आकस्मिक परिवर्तन तब अग्राह्य और क्षोभकारी प्रतीत होता है, जबकि उसके लिए पहले से ही यथेष्ट भूमि निर्मित नही कर ली जाती और पात्र के विकास की अवस्था मे ही बीज-रूप मे ऐसी स्थिति की सभावना निहित न हो। एकरूपता से हमारा तात्पर्य यह नही है कि पात्र आरम्भ मे जैसा हो, वैसा ही अत मे भी हो, वरन् हमारा तात्पर्य यही है कि उसमे जो कुछ भी परिवर्तन हो, वे विभिन्न परिस्थितियो मे हो और इस रूप मे हों कि पाठको को वे सर्वथा समीचीन और अपरिहार्य प्रतीत हो।

लेखक जिस प्रकार असभाव्य घटना को इस रूप मे प्रस्तुत कर सकता है कि वह सभाव्य प्रतीत हो, उसी प्रकार वह असभाव्य चरित्र को भी प्रस्तुत कर सकता है, जिस पर भले ही पाठक पूर्णतः विश्वास न कर सके, किन्तु सम्भावना के रूप मे ग्रहण कर ले। इस प्रकार के चरित्र उच्च कोटि का प्रतिभा सम्पन्न कलाकार ही प्रस्तुत कर सकता है। सामान्यतः ऐसे पात्र उस युग विशेष में पाठको का उतना अधिक ध्यान आकृष्ट नही कर पाते, जितना कि सामान्य स्तर के समाज के उपरले स्तर के चरित्र; किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका मूल्यांकन अवश्य ही होता है।

उपन्यासकार अपने समसामयिक जीवन से प्रभावित ही नही रहता, अपितु स्वय भी वही जीवन जीता है। वह अपनी कथा-वस्तु कही से भी गृहीत कर सकता

है, किन्तु उसे वह अपने युग की आँखों से ही देखता है, अर्थात् उसकी युग-दृष्टि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह अपनी रचना को उससे अस्पृष्ट नही रख सकता; किन्तु उसे अपनी विषय-वस्तु और पात्रो को देश-काल की सीमा के अनुकूल रखते हुए भी सार्वजनीन और सार्वकालिक बनाने का प्रयास करना चाहिए। महान् कलाकार इस दिशा मे यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते है।

पात्र या पात्रो के साथ तादात्म्य-स्थिति भी चरित्र-अन्वेषण की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति है। पाठक उसी या उन्ही पात्रो के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो उसकी रागात्मक और बौद्धिक वृत्ति को प्रभावित कर सके। जीवन से सीधे लिये गए सजीव पात्र ही अपनी समस्त क्रिया-प्रतिक्रिया की स्थिति मे पाठक को अजनबी से नही प्रतीत हो सकते। उन्हे वह बहुत कुछ अपने से अभिन्न समझ सकता है। ऐसे पात्र पाठक पर अत्यधिक प्रभाव छोड जाते है। आधुनिक युग मे आलोचक तादात्म्य-भाव को अधिक महत्त्व नही प्रदान करते। उनका मतव्य है कि पाठक मानसिक दूरी बनाए रखकर तटस्थ भाव से ही कला-कृति का आस्वादन कर सकता है और तादात्म्य की स्थिति मे वह रचनाकार या पात्र की पकड मे आ जाता है तथा अपनी भाव-भूमि की समता पाकर अभिभूत हो उठता है। इस कारण उचित रूप मे वह आस्वादन नही कर पाता। किन्तु कलास्वादन की स्थिति मे ताटस्थ्य की तुलना मे निर्वैयक्तिकता अधिक अनुकूल सिद्ध होती है और यह तादात्म्य की स्थिति मे रहती है। साथ ही तादात्म्य-स्थिति का आवश्यक गुण मानसिक दूरी भी है। अतः तादात्म्य-स्थिति को नकारा नही जा सकता। यदि उपन्यासकार मानव-भाव-कोश की सूक्ष्मतम विच्छित्तियो को ध्यान मे रखकर आधुनिक मानव को प्रस्तुत करेगा, जिसमे भावुकता की तुलना मे बौद्धिकता स्वभावतः अधिक होगी और जिसकी सवेदना बुद्धि-तत्व से अनुशासित होगी, उसके साथ पाठक को तादात्म्य-स्थिति अनिवार्य रूप मे होगी और यदि पात्र भविष्य की सम्भावना के रूप मे चित्रित होगा, तो भी पूर्णतः तादात्म्य न होने पर भी तादात्म्य का सस्पर्श तो अवश्य ही होगा। यह बात निश्चित-सी है कि समस्त पात्रो के साथ तादात्म्य सम्भव नही है। केन्द्रीय पात्र के साथ ही तादात्म्य होता है और वह लेखक की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ लोग ऐसा मानते है कि आधुनिक युग मे उपन्यास पात्रो या चरित्रो का चित्रण नही करता। आधुनिक उपन्यास मानव-जीवन को छोड़कर सब कुछ चित्रित करता है। कुछ उपन्यास इस प्रकार के मिल भी जाते है। अब प्रश्न उठता है कि यदि उपन्यास पात्रो या चरित्रो का चित्रण नही करता तो उसे उपन्यास कैसे कह सकते है। या तो उपन्यास की परिभाषा परिवर्तित करनी होगी या उसका अत्यधिक विस्तार

करना होगा और दोनो दिशाओ मे खतरे है। मानव का ज्ञान निरन्तर विकासमान है। वह उस ज्ञान को उपन्यास के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। वह अपनी ही भावनाओ, सवेगो और मन: स्थितियो को अभिव्यक्ति दे सकता है, परन्तु शिथिल विन्यास मे नही। उसे किसी न किसी पात्र को अपने विचारो और भावो का वाहन बनाना पडेगा। यदि किसी पात्र को माध्यम बनाए बिना वह ऐसा कुछ करता है तो उसकी रचना उपन्यास नाम से अभिहित नही हो सकती। शिथिल विन्यास और अन्विति का अभाव कुछ सीमा तक ग्राह्य है, क्योकि उनके भीतर से भी केन्द्रीय विचार या भाव-भूमि का प्रकाशन हो सकता है। अत: आधुनिकतम उपन्यासो की प्रवृत्ति को देखते हुए यह स्पष्ट रूप मे कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन से सम्बद्ध है और वह मानव के विचार और अनुभूति के प्रकाशन का साधन है। अतएव उसकी पात्र-विरहित स्थिति स्वीकार्य नही।

पात्रों के प्रकार—उपन्यास के पात्र सामान्य स्थिति मे दो प्रकार के होते है—स्थिर और गतिशील। इन्हे अग्रेजी मे Flat और Round कहते हैं। सुविधा की दृष्टि से फ्लैट पात्र को चतुरस्र या 'टाइप' भी कह सकते है। स्थिर या चतुरस्र पात्र अपरिवर्तनशील होते है। आरम्भ से लेकर अंत तक उनके चरित्र मे किसी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगत नही होता। ऐसे पात्रो मे परिवर्तन नही होता। यदि परिवर्तन होता है तो इनके सम्बन्ध मे पाठको के ज्ञान मे होता है। स्थिर या चतुरस्र पात्र व्यक्ति न होकर 'टाइप' होते है, अर्थात् किसी वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि। टाइप वस्तुत: वह पात्र है, जिसमे वैयक्तिक और सामाजिक गुण की कुछ प्रधान विशेषताएँ युगपत् प्रस्तुत की जाती है। केवल सामाजिक विशेषताओ से सम्पन्न पात्र 'टाइप' नही हो सकता। उसका अपना निजी व्यक्तित्व होना चाहिए। किसी वर्ग के प्रतिनिधि वे इसलिए कहे जाते है कि उनमे वर्गगत गुण-दोष आदि स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होते है, किन्तु उपन्यासकार उसकी समस्त विशेषताओ को आरम्भ मे ही उद्घाटित नही कर देता, प्रत्युत कथानक के विकास के साथ, अन्य पात्रो के सान्निध्य मे उसकी एक-एक विशेषता खुलती जाती है, पर उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। उसके सम्बन्ध मे पाठको की जानकारी बढती जाती है। स्थिर पात्र समाजगत आशा-आकाक्षा, सुख-दु:ख, रुचि-अरुचि आदि के प्रतिनिधि होते हैं। इस कारण पाठक उनमे अपनी समस्याओ को देख पाता है और उनके साथ सरलतया तादात्म्य स्थापित कर लेता है। स्थापित मूल्यो के अनुकूल होने के कारण ऐसे पात्र पाठको को यथेष्ट रूप मे प्रभावित करते है। परन्तु अच्छे उपन्यासो मे गतिशील पात्रो का ही चित्रण होता है। प्रगतिवादी उपन्यासो मे वर्ग-प्रतिनिधि 'टाइप' पात्रो को अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योकि उनके माध्यम से वर्ग की भावनाओ को अच्छी अभिव्यक्ति

हो सकती है और ऐसे पात्र पाठको पर अपनी अमिट छाप छोड जाते हैं।

गतिशील पात्र—गतिशील पात्र आरम्भ मे जो रहता है, वही अत मे नही रह जाता। उस पर अपनी परिस्थितियो एव अपने परिवेश का प्रभाव पडता है। वह अपनी परिस्थितियो को बदलने का प्रयत्न करता है और यथावसर परिस्थितियो के अनुसार बदल भी जाता है। स्थिर पात्रो के समान इनका कोई रूप निर्धारित नही रहता और इनके विकास की कोई सीमा नही रहती। स्थिर पात्र टूट सकते है, किन्तु बदल नही सकते, जबकि गतिशील पात्र अपने आप को परिस्थितियो के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। विभिन्न परिस्थितियो मे जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, उसका भी उस पर प्रभाव पडता है। ऐसे पात्र के माध्यम से उपन्यासकार जीवन की गहनतम अनुभूतियो को अभिव्यक्त कर सकता है। आतरिक कारणो पर प्रकाश डालते हुए वह असख्य अनुभूतियो को योजित कर सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे पात्रो की योजना अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। उपन्यासकार उनके मनोविश्लेषण के माध्यम से बहुत कुछ कहने का अवसर प्राप्त कर लेता है।

पात्रो का एक नया प्रकार आधुनिक उपन्यासो की विशेषता है जिसे प्रतीक पात्र कहते है। प्रतीक पात्र उपन्यासकार के विचार, जीवन-दर्शन आदि का प्रतिनिधित्व करते है। यदि ये प्रतीक पात्र विचार और जीवन-दर्शन के वाहन-मात्र होते है तो उबाने वाले सिद्ध होते है, किन्तु यदि ये युग-सत्य के उद्घाटन के साधन बनकर आते है तो पाठको पर इनका आत्यतिक प्रभाव पडता है। युग-चेतना की अभिव्यक्ति के ये अच्छे साधन होते है, परन्तु इनकी योजना में अतिरिक्त सावधानी अपेक्षित होती है।

चरित्र-चित्रण की विधियाँ—कुछ लोग चरित्र-चित्रण की अतरंग, बहिरग और नाटकीय तीन प्रकार की विधियाँ मानते है और बहिरग चित्रण मे पात्रो के नामकरण, आकृति-वेशभूषा, अनुभाव चित्रण आदि को ग्रहण करते है और आंतरिक चित्रण मे मानसिक वृत्तियो के विश्लेषण को महत्त्व प्रदान करते है तथा नाटकीय चित्रण मे कथानक, कथोपकथन आदि के आधार पर अपने आप चरित्र पर प्रकाश पड जाता है। जहाँ तक बहिरग चित्रण का प्रश्न है वह अपने आप मे स्थूल है। वस्तुतः वह चरित्र-चित्रण का कोई अच्छा साधन नही है और उससे चरित्र के महत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नही पडता। इस कारण हम सामान्य रूप मे स्वीकृत चरित्र-चित्रण की दो विधियो का ही यहाँ निरूपण करेगे। अतरंग विधि को ही हम विश्लेषणात्मक विधि कह सकते है और दूसरी विधि नाटकीय है, जिसे अभिनयात्मक भी कहते है।

विश्लेषणात्मक विधि—विश्लेषणात्मक विधि को उपन्यासकार सर्वज्ञता की स्थिति मे अपना सकता है। ऐसी स्थिति मे वह अपने पात्र के समस्त पक्षो को सरलता से देख सकता है और यथावसर विस्रब्ध भाव से उन्हे उद्घाटित कर सकता है। नाटक-

कार की तुलना में उपन्यासकार अधिक अच्छी स्थिति में रहता है। उसे व्याख्या और टीका-टिप्पणी करने की पूरी स्वतत्रता रहती है। वह अपने पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ को पूरी कुशलता से उद्घाटित कर सकता है। नाटककार को इस प्रकार की सुविधा नही प्राप्त होती। विश्लेषण एक ऐसा साधन है, जिसके आधार पर उपन्यासकार गतिशील पात्रो का निर्माण कर सकता है और यथावसर पात्रो के मनोवेगो, भावो, आवेगों आदि पर प्रकाश डालकर अपने चित्रण को गम्भीर और व्यापक बना सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान चरित्र-चित्रण मे अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। मानव-मन की बहुत सारी गुत्थियाँ सामने आई है। अब यह अनुभव होने लगा है कि मनुष्य का जो रूप प्रकट है, उससे उसका अप्रकट रूप अधिक बडा और गहन है। मानव के चेतन से उसका अचेतन अधिक महत्त्वपूर्ण है जो उसके कार्य-व्यापार को सर्वदा प्रभावित करता रहता है। उपन्यासकार विभिन्न प्रणालियो से अपने पात्रो के चेतना-अचेतन मस्तिष्क के बहुत सारे पक्षो को विश्लेषित कर उनके चरित्र के सूक्ष्मतम तत्त्वो को उद्घाटित कर देता है। विश्लेषण-पद्धति में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस किसी तत्त्व को प्रकाशित करे, उसे वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल स्थिति मे करे, विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण उसी आधार पर स्वाभाविक हो सकेगा।

नाटकीय अथवा अभिनयात्मक विधि—इस प्रकार का चरित्र-चित्रण अधिक स्वाभाविक और कलात्मक होता है। लेखक अपनी ओर से मौन रहता है। पात्र ही आगे बढ़कर विविध परिस्थितियो और घटना-चक्रो में अपने वैशिष्ट्य-दौर्बल्य को प्रकट कर देते हैं। उनके पारस्परिक कथनोपकथन से भी उनके मनोभाव, राग-द्वेष, रुचि-अरुचि आदि व्यक्त हो जाते है।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण—परिस्थितियो और घटना-चक्रो मे पडकर पात्र अपनी जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, वह उसके चारित्रिक घटक की परिचायिका होती है। घटना से व्यक्ति का चरित्र ही उद्घाटित नही होता, वरन् उसका चरित्र परिष्कृत भी होता है। घटनाएँ उपन्यास के कार्य-व्यापार को ही गति नही देती, प्रत्युत पात्रो के चरित्र-विकास और उसके विविध पक्षो के उद्घाटन मे भी सहायक सिद्ध होती हैं।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—कथोपकथन की योजना एक तो स्वाभाविकता लाने के लिए होती है और दूसरे पात्रो के चरित्र-उद्घाटन के लिए। विश्लेषण से लेखक जो कुछ नही कह पाता, उसे पात्र अपने स्वाभाविक सवाद मे कह देते हैं। सवाद की स्थिति मे उन्मुक्तता रहती है। इस कारण पात्र बहुत सारी ऐसी बातें कर जाते है जो अन्य स्थिति मे सभव नही और उन बातो से उनकी चारित्रिक दुर्बलता-

सबलता अधिक सूक्ष्मता से प्रकट हो जाती है। वर्तमान काल मे सवादो की योजना होने के कारण उनमें स्वाभाविकता और विश्वसनीयता अधिक मात्रा मे होती है और उनका प्रभाव पाठको पर अच्छा पडता है।

उद्धरण शैली, डायरी शैली, पत्रात्मक शैली आदि का प्रयोग पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए किया जाता है, किन्तु इन सबको पृथक् रखना आवश्यक नही है। ये सब विश्लेषणात्मक विधि ही मे अन्तर्भुक्त हो जाते है।

उपन्यास की सबसे बडी विशेषता यही है कि उसमे चरित्र-चित्रण के लिए अधिक अवकाश रहता है। नाटक की ऐसी स्थिति नही होती। नाटक मे प्रत्यक्ष रूप मे ही चरित्र-चित्रण का अवसर रहता है, जबकि उपन्यास मे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनो रूप मे चित्रण किया जा सकता है। कार्य-व्यापार की प्रमुखता और प्रत्यक्ष-दर्शन के कारण नाटक के पात्र अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं और इस प्रकार की प्रभावशालिता की निर्मित के लिए उपन्यासकार को और अधिक व्यापक भूमि अपनानी पडती है। जहाँ नाटक मे कार्य- व्यापार की प्रधानता होती है, वहाँ उपन्यास मे चरित्र के आतरिक कार्य-व्यापार की प्रधानता होती है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रकार के उपन्यास मे किसी न किसी रूप मे चरित्र की अवस्थिति होती है, किन्तु वही उपन्यास साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिसमे चरित्र की प्रधानता होती है। उपन्यासकार अपने पात्रों की मानसिक भूमियो का उद्घाटन कर पाठक के सामने ऐसो नई और विस्मयकारी वस्तुओ को प्रस्तुत कर सकता है, जिन्हे देखकर वह विमुग्ध हो सकता है। वह अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धति को अपना कर नवीन सौन्दर्य-सृष्टि कर सकता है, जबकि नाटककार के लिए इतनी अधिक सुविधा नही होती। विश्लेषणात्मक पद्धति उपन्यासकार के लिए विशेष वरदान है, किन्तु उसके दुरुपयोग की भी सभावनाएँ अधिक है। यदि उपन्यासकार परिस्थिति और वातावरण को ध्यान मे रखे बिना ही इस पद्धति का उपयोग करता है तो उसकी सारी निर्मिति अस्वाभाविक और कृत्रिम हो जाएगी। साथ ही विश्लेषण का सहारा लेते हुए उसे यह भी ध्यान मे रखना पडता है कि विश्लेषण की जिस पद्धति को वह अपना रहा है, वह स्थिति-विशेष मे उपयुक्त है या नही। विश्लेषण की धुन मे जब लेखक लम्बे-लम्बे सवाद, व्याख्यान, पत्र आदि को अपनी रचना-प्रणाली मे उनकी स्वाभाविकता पर विचार किए बिन योजित करने लगता है तो उसकी सारी योजना नीरस हो जाती है और इस प्रकार उसका उद्देश्य क्षतिग्रस्त हो जाता है। मनोविज्ञान ने लेखक को बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण भूमि प्रदान की है। यदि वह सावधानी से उसका उपयोग कर सके तो पात्रो के चरित्र के अनेक आयाम सुन्दर रीति से उद्घाटित हो सकते है और जीवन को नये सिरे से समझने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है। इसके लिए

विश्लेषणात्मक पद्धति ही अधिक उपादेय सिद्ध हो सकती है ।

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ—उपन्यासकार अपने पात्रो की निर्मिति और अन्वेषण मे स्वतत्र होता है । उसके पात्र प्रायः इस प्रकार के होते है कि वे सहज रूप मे उसकी व्यापक अनुभूति के वाहक बन सके । तथापि अपनी रचना को सुन्दर और पूर्ण बनाने के लिए लेखक को कुछ मूलभूत विशेषताओ की ओर ध्यान देना पडता है । मौलिकता, स्वाभाविकता, अनुकूलता, सजीवता, आदि ऐसे गुण है जो चरित्र-चित्रण को अधिक व्यवस्थित और मार्मिक बना सकते है ।

मौलिकता—रचना-प्रक्रिया मे मौलिकता का बहुत बडा महत्त्व होता है । कथानक की मौलिकता सबसे महत्त्वपूर्ण होती है, जिसमे लेखक का दृष्टिकोण विशेष रूप से अपना महत्त्व रखता है । एक ही कथानक दो या तीन या अधिक लेखको के हाथ मे पड़कर भिन्न रूप धारण कर लेता है । इसी प्रकार पात्रो की सृष्टि भी होती है । जो लेखक जितना अधिक प्रतिभा सम्पन्न होगा और जिसका निर्माण-कौशल जितना परिपक्व होगा, उसके पात्र उतने ही मौलिक होगे । पात्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होना चाहिए और वह व्यक्तित्व इतना स्पष्ट और प्रभावशाली होना चाहिए कि पाठक चाहे तो कल्पना की आँखो से उसे प्रत्यक्ष देख ले । जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति रूप-आकार, रुचि-व्यवहार आदि मे एक समान नही होते, उसी प्रकार दो पात्र भी एक समान नही होने चाहिए । एक बात अवश्य है कि मौलिकता की धुन मे लेखक को ऐसे पात्रो का सृजन नही करना चाहिए जो इस ससार के ही प्रतीत न हो । वह ऐसे पात्रो का निर्माण कर सकता है जो भूत या वर्तमान के प्राणी न हो, किन्तु भविष्य मे जिनकी सभावना हो । परन्तु मानवीय भाव का सस्पर्श अपेक्षित रूप मे होना चाहिए, अन्यथा दारु-पुत्तलिका के समान वे पात्र क्रीडा-कौतुक ही सिद्ध होगे ।

स्वाभाविकता—पात्र स्वाभाविक तभी प्रतीत हो सकते हैं, जब कि वे हमारे बीच के ही प्रतीत हो । उन्हे अतिमानवीय प्रवृत्तियो से युक्त दिखना उचित नही होता । बहुत से लेखक आदर्श के निर्माण की धुन मे अपने पात्रो मे अत्यधिक गुण आरोपित करने लगते है । इस कारण वे पात्र कुछ अविश्वसनीय और कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होने लगते है । पात्र ऐसे होने चाहिए कि पाठक उनकी उँगलियाँ पकड कर जगत् का भ्रमण कर सके, जीवन-जगत् के बहुत सारे रहस्यो को उनके माध्यम से जान सके और उन्हे अपना मित्र समझ सके । इसी प्रकार किसी पात्र की चारित्रिक दुर्बलता दिखाने के लिए उसमे सभी प्रकार के दुर्गुणो को दिखाना भी प्रभाव की दृष्टि से उचित नही होता । दुर्गुणो के साथ कुछ गुणो की भी स्थिति हो सकती है, जिनसे वह मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकता है और मानवीय भावो के सस्पर्श के बिना वह मानव नही बन सकता और उसका चारित्रिक विकास स्वाभाविक नही प्रतीत हो सकता । स्वाभाविकता के लिए यह

आवश्यक है कि लेखक अपनी आँखे खुली रखे और जीवन से ही ऐसे पात्रो को ग्रहण करे जो हमारे समान ही हाड-माँस के पुतले हैं, जिनके अपने सुख-दु:ख है, अपनी रुचि-अरुचि है और अपनी भावनाएँ हैं।

अनुकूलता—परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल ही पात्रो का विकास होना चाहिए। परिस्थिति की बाध्यता कुछ दूसरी हो और पात्र किसी दूसरी दिशा में प्रवृत्त हो, इसका उपन्यास की रचना पर बुरा प्रभाव पडता हैं। इसी प्रकार चरित्र का विकास कथानक के विकास मे सहायक होना चाहिए। उसके कारण कथानक के प्रवाह मे किसी प्रकार का व्यतिक्रम नही आना चाहिए। परिस्थिति, देश-काल और कथानक के अनुकूल पात्रो की स्थिति स्पृहणीय होती है।

सजीवता—स्वाभाविकता मे ही हम कह आए है कि पात्रो का सम्बन्ध हमारे जीवन से होना चाहिए। वे हमारे जाने-पहचाने होने चाहिए और उनमे मानवीय भावना का ऐसा सस्पर्श होना चाहिए कि वे पाठक को अजनबी जैसे प्रतीत न हो। यदि पात्र उपन्यास मे मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किए जाते है और मानवीय भाव-सस्पर्श से सम्पन्न रहते है तो वे निश्चय ही सजीवता सम्पन्न रहेगे तथा पाठको पर उनका विध्यात्मक प्रभाव पडेगा।

पात्रो के चित्रण मे उपन्यासकार को सहृदयता रखनी चाहिए। अपने किसी सिद्धात-विशेष की प्रतिष्ठा के लिए उसे अपने पात्रो का गला नही घोटना चाहिए। पात्र के किसी प्रकार के विकास या परिवर्तन को दिखाने के लिए उसे यथेष्ट कारण उपस्थित करने चाहिए। चरित्र-चित्रण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है। लेखक को अपनी प्रतिभा के उन्मुक्त प्रयोग के लिए यह क्षेत्र अत्यन्त उर्वर है। वह किसी भी रूप मे मानवीय सवेदना को केन्द्र मे रख कर अपने पात्रो का निर्माण कर सकता है।

कथोपकथन

कथोपकथन का सम्बन्ध कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण दोनो से है। आज कल उपन्यास साहित्य का जिस रूप में विकास हो रहा है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कथोपकथन उपन्यास के लिए अनिवार्य तत्त्व नही है, तथापि उपन्यास का सामान्य भूमि कथोपकथन के बिना नीरस हो जाएगी। उपन्यास की स्वाभाविकता कथोपकथन पर निर्भर करती है; किन्तु यह स्वाभाविकता तभी बनी रह सकती है, जबकि वातावरण और चरित्र के अनुकूल उसकी योजना की जाय। कथोपकथन से कथावस्तु का विकास होता है और पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ का प्रकाशन भी होता है। कथोपकथन कभी-कभी वातावरण के निर्माण मे भी सहायक होते हैं। सामान्य रूप मे कथोपकथन कथा-वस्तु के विकास और स्वाभाविकता के लिए ही प्रयुक्त होते है, किन्तु पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ का प्रकाशन उसका विशिष्ट धर्म है। कथा-वस्तु के विकास के लिए लेखक सामान्यतया उस समय कथोपकथन का प्रयोग करता है, जबकि कथानक से प्रत्यक्षतः असम्बद्ध ऐसी कोई बात प्रस्तुत करनी होती है जो अप्रत्यक्ष रूप मे कथा-वस्तु के विकास मे सहायक सिद्ध होती है। असम्बद्ध घटना को सीधे प्रस्तुत कर देना उपन्यास की स्वाभाविकता के लिए घातक होता है। इसीलिए किन्ही पात्रो की वार्त्ता के माध्यम से उसे प्रकट किया जाता है। कुशल उपन्यासकार इस प्रकार की वार्त्ता का बहुत ही कुशलता से प्रयोग करते हैं और कथानक की स्वाभाविकता को बनाए रखने के साथ घटना-क्रम को विकसित करते हैं। कथानक के विकास मे कथोपकथन का प्रयोग करते समय अतिरिक्त सावधानी आवश्यक होती है। यदि लेखक पृष्ठभूमि और वातावरण को स्पष्ट किए बिना कथोपकथन का प्रयोग करेगा तो उपन्यास मे अस्वाभाविकता आ जाएगी।

कथोपकथन पात्रो की चारित्रिक विशिष्टता को अत्यत सुन्दर ढग से प्रकाशित करता है। साधारणतः कथोपकथन का प्रयोग किन्ही दो या अधिक पात्रो की बातचीत के रूप मे किया जाता है। पात्र अपनी वार्त्ता से किसी परिस्थिति विशेष पर प्रकाश

डालते हैं अथवा किसी सिद्धांत विशेष की चर्चा करते हैं अथवा अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि पर प्रकाश डालते हैं। सामान्यतः सफल लेखक अपने पात्रो को विभिन्न परिस्थितियो मे डाल कर उनके चरित्र के विभिन्न स्वरूपों को पाठको के सामने रख देते हैं। ऐसा करने से उन्हे स्वयं अपनी ओर से टिप्पणी देने की आवश्यकता नही रह जाती और इसका सर्वोत्तम साधन है विभिन्न पात्रो का वार्त्तालाप। मन की गुत्थियो और भावनाओं के सुलझाने और प्रकाशित करने का साधन भी वार्त्तालाप है। व्यक्ति अपनी भावनाओ, अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओ को किसी न किसी रूप मे अपने किसी अंतरग के सामने कहकर थोडा हलका अनुभव करता है। सुखात्मकस्थिति को दूसरे के सामने प्रकट कर वह आनन्द का अनुभव करता है। मनुष्य अपने सुख को अपने अतरंगों मे बाँट कर और अधिक सुखी होता है और दुःख को अपने अतरगों के सामने कह कर अपने आपको मानसिक तनावो से बचाता है। इस प्रकार यह पात्रो के मनोविश्लेषण के लिए भी आवश्यक सिद्ध होता है, जिससे उनके चरित्र के ऐसे पक्ष भी खुल जाते हैं, जिनका दूसरे रूप मे खुलना सभव नही है।

कथोपकथन की एक उपादेयता यह भी है कि उससे लेखक का उद्देश्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसमे कोई सदेह नही कि लेखक जीवन और जगत् का चित्र प्रस्तुत करता है, किन्तु उसकी दृष्टि कितनी ही वस्तुनिष्ठ क्यो न हो, उसकी निजी, वैयक्तिक दृष्टि का सर्वथा अभाव नही होगा। मूलतः जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जिसके आधार पर वह अपनी रचना का रूपायन करता है। यदि वह सर्वज्ञता की शैली को अपना कर अपनी रचना लिखता है तो बीच-बीच मे वह अपनी टिप्पणी देता जाता है और अपने जीवन-दर्शन को आरोपित करता चलता है, किन्तु जब वह दूसरी शैली अपना कर चलता है तो उसे अपनी जीवन-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप मे आरोपित करने का अवसर कम मिलता है। इस कारण वह पात्रो के माध्यम से अपनी विचार-भूमि को प्रस्तुत करता है। कोई न कोई पात्र लेखक के विचारो का वाहक होता है। पात्रो की पारस्परिक वार्त्ता से उसका दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार लेखक कलात्मकता को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना अपना उद्देश्य पूरा कर लेता है। किन्तु कथोपकथन का अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से उपयोग करते समय उसे अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। स्वाभाविकता को बनाए रहते हुए ही वह पात्रो के माध्यम से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकता है। यदि उसने किंचित् उतावलापन और किंचित् असावधानी दिखाई तो वह जिस उद्देश्य से परिचालित होकर अपने पथ का निर्माण करता है, उसका वह उद्देश्य ही धराशायी हो जाएगा। पात्रों की परिस्थिति, मनः-स्थिति और सामर्थ्य को समझते हुए उसे कथोपकथन की योजना करनी चाहिए।

कथोपकथन का प्रयोग वातावरण की सृष्टि के लिए भी किया जाता है। सामान्य स्थिति मे ऐसा नही होता। ऐसे उपन्यासो मे इसका इस रूप मे प्रयोग किया जाता है, जिनमे वातावरण की प्रधानता होती है।

और अनेक रूपो मे उपन्यास की प्रभावमयता की सवृद्धि के लिए लेखक कथोपकथन का उपयोग कर सकता है। घटना को आकस्मिक मोड देना हो, पात्रो के चरित्र के किसी विशेष कोण को उद्घाटित करना हो अथवा किसी प्रकार की नाटकीयता को उभारना हो तो लेखक कथोपकथन का उपयोग कर सकता है। कथोपकथन कब, किस रूप मे आवश्यक है, यह लेखक के निर्णय और विचार शक्ति पर निर्भर करता है और उनकी निर्णय-शक्ति जितनी परिपक्व होगी, उसकी विचार-शक्ति जितनी दृढ होगी तथा उसकी परिस्थितियो की पकड जितनी मजबूत होगी, उसका कथोपकथन उतना ही प्रभावशाली, उतना ही सजीव और उतना ही स्वाभाविक बन पडेगा।

कथोपकथन के गुण—अभी तक हमने यह देखा कि लेखक किन-किन परिस्थितियो और किन-किन रूपो मे कथोपकथन का प्रयोग कर सकता है और ऐसा करके वह किस रूप मे अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है। अब हमे यह देखना है कि कथोपकथन मे ऐसे कौन से गुण अपरिहार्य है, जिनसे युक्त होने पर ही वे अभिप्रेत उद्देश्य की पूर्ति कर पाते है और जिनके अभाव मे उनका प्रभाव विपरीत हो जाता है। वे गुण है स्वाभाविकता, रोचकता, उपयुक्तता, अनुकूलता, सम्बद्धता, सक्षिप्तता, सोद्देश्यता, नाटकीयता आदि।

स्वाभाविकता—कथोपकथन शब्दशः जीवन से नही लिया जाता, तथापि कार्य-व्यापार को वास्तविकता अवश्य प्रदान करता है तथा घटना-क्रम को विकसित करता है। कथोपकथन का प्रयोग करते समय लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ पर जिन पात्रो के मध्य उसका प्रयोग किया जाता है, उनके मध्य उनका प्रयोग उचित है या नही। स्वाभाविकता के लिए औचित्य आवश्यक है। औचित्य मे स्थान, काल, व्यक्ति और कार्य-व्यापार का औचित्य सन्निविष्ट है। इन सबको ध्यान मे रख कर यदि कथानक की योजना होगी, तभी वह स्वाभाविक हो सकेगा। स्वाभाविकता के लिए भाषा के प्रयोग मे भी सावधानी आवश्यक होती है। पात्रो की शिक्षा, मानसिक स्थिति, जीवनस्तर और घटना-विशेष को ध्यान मे रखते हुए भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ तक सभव हो यथार्थ का आभास देनी वाली भाषा ही प्रयुक्त हो, जिसमें आरोपित आडबर न हो।

रोचकता—सवाद की योजना संतुलित और सुव्यवस्थित होनी चाहिए। जब लेखक अनावश्यक रूप मे, आडबरमयी शैली मे अपने पात्रो की वार्त्ता प्रस्तुत करता है तो भले ही वह सवाद-योजना कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो और उससे प्रकाशित

की गई वस्तु कितनी महनीय और उदात्त क्यो न हो, पाठको पर उसका विपरीत प्रभाव पडेगा और एक प्रकार की नीरसता आ जाएगी जो रचना के प्रभाव को व्याहत कर देती है। उपन्यास के स्वाभाविक विकास मे कथोपकथन के कारण किसी प्रकार का व्याघात रोचकता को न्यून कर देता है।

उपयुक्तता—कथोपकथन पात्र, परिस्थिति और घटना के उपयुक्त होना चाहिए, तभी वह सरस और प्रभावोत्पादक हो सकता है। अनुपयुक्त सवाद अशक्त होता है और रचना को प्रभावहीन बना देता है।

अनुकूलता—कथोपकथन पात्र, परिस्थिति और घटना के अनुकूल होने चाहिए। साधारणतः भाषा के प्रयोग मे भी लेखक को सावधानी रखनी चाहिए। बालक, वृद्ध या युवा की भाषा उसकी वय, शिक्षा, जीवन-स्तर और परिवेश के अनुकूल होनी चाहिए। किसी अज्ञानी से दार्शनिक व्याख्यान दिलाना अथवा किसी अबोध बालक की भाषा मे रहस्यमयता भरना सर्वथा अनुचित होता है। साथ ही यह भी विचारणीय होता है कि कब, किस रूप मे संवाद नियोजित करना चाहिए। कल्पना कीजिए किसी मृत व्यक्ति के दाह-सस्कार के समय कुछ पात्रो के सवाद का अवसर लेखक निकाल लेता है। उस समय यदि पात्र जीवन की दार्शनिक व्याख्या आरम्भ कर दे और जीवन-मरण के सम्बन्ध मे विस्तृत व्याख्यान देने लगे तो उपन्यास की रोचकना बाधित हो उठेगी। ऐसे अवसर पर दुःख और समवेदना का जितना महत्त्व है, उतना जीवन-मरण के दार्शनिक विवेचन का नही।

सम्बद्धता—कथोपकथन का पूर्वापर सम्बन्ध अपेक्षित है। कथोपकथन की आकस्मिक अवतारणा हास्यास्पद होती है। लेखक को कथोपकथन की योजना करने से पूर्व भूमि निर्मित कर लेनी चाहिए, जिससे वह कथानक के प्रवाह से अनुस्यून रहे और किसी भी रूप मे ऐसा प्रतीत न हो कि वह बाहर से आरोपित है। कभी-कभी किसी अनुच्छेद के आरम्भ मे ही कथोपकथन की योजना की जाती है। ऐसा सवाद कथानक का अग-रूप ही होना चाहिए। ऐसा होने पर उसका पूर्वापर सम्बन्ध बना रहेगा।

लाघव (संक्षिप्तता)—कथोपकथन का लाघव कहानी और नाटक मे प्रभावान्विति की दृष्टि से अधिक उपादेय होता है। उपन्यास मे लाघव अनिवार्य नही है, क्योकि उपन्यास का क्षेत्र व्यापक होता है और उपन्यासकार को सवाद के माध्यम से पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ को प्रकाशित करने का अवसर अधिक प्राप्त होता है। उपन्यास का पाठक किंचित् विस्तार को सहन कर सकता है। तथापि सवाद का लाघव स्पृहणीय होता है, वह रचना की रोचकता को बढाता है और उसमे एक प्रकार की साकेतिकता भी होती है जो रचना की प्रभविष्णुता मे सहायक होती है। सक्षिप्त सवादो की

सबसे बडी विशेषता यह होती है कि वे रचना की प्रभावान्विति को तीव्र बना देते है।

सोद्देश्यता—सवाद की योजना सवाद के लिए नही होनी चाहिए। उसके पीछे कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए। कथोपकथन का उद्देश्य घटना-क्रम का विकास, पात्रो की चारित्रिक विशेषता का प्रकाशन और वातावरण की सृष्टि है। इन्ही उद्देश्यो को ध्यान मे रख कर लेखक को सवाद नियोजित करने चाहिए। जीवन का चित्र प्रस्तुत करना अथवा जीवन की व्याख्या करना अथवा मानव-अनुभूति का प्रकाशन कला का धर्म है। उपन्यास का भी यही धर्म है। अतः सवाद इसमे भी योग देता है, क्योकि उपन्यास की आगिक अन्विति का वह भी एक अश है ही।

नाटकीयता—नाटकीयता सामान्य रूप मे स्वाभाविकता की विरोधी है, किन्तु कलात्मकता के लिए आवश्यक है। कोई भी अपने दैनन्दिन जीवन मे जैसा व्यवहार करता है, जैसी बातचीत करता है और जैसे शब्दो का प्रयोग करता है, यदि उन सब को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत कर दिया जाए तो रचना की रोचकता नष्ट हो जाएगी। इसी कारण लेखक यथार्थ को कलात्मक बाना पहनाकर प्रस्तुत करता है और संवाद को क्षिप्र, साकेतिक तथा प्रभावशाली बना देता है। इस प्रकार की क्षिप्रता, साकेतिकता और प्रभावशालिता नाटकीय होती है, किन्तु इसके साथ स्वाभाविकता और यथार्थ का भाव भी विद्यमान रहता है। यथार्थवादी और अतियथार्थवादी इस प्रकार की नाटकीयता को न अपनाकर मूल, यथार्थरूप की प्रस्तुति को अधिक महत्त्व देते है। परिणाम यह होता है कि सवाद नग्न और भोडे रूप मे सामने आते है, उनका प्रभाव क्षोभकारी होता है। अश्लील और भद्दे शब्द प्रयोग यद्यपि साधारण रूप मे बोलचाल भी भाषा में होते रहते हैं। ऐसे प्रयोग के पीछे व्यक्ति-विशेष के सस्कार और उसका परिवेश होता है। यह यथार्थ है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता, परन्तु यथार्थ की रूप-प्रस्तुति मे भाषा-सस्कार-च्युति कथमपि शोभनीय नही है।

संक्षेप मे हम कह सकते है कि पात्रो के चरित्र-चित्रण और बहुत-सी परि-स्थितियो के सुन्दर चित्रण मे कथोपकथन का बहुत बडा महत्व होता है। कथोपकथन से उपन्यास मे नाटक के अनुशासन और वस्तुनिष्ठता के तत्व प्रभावशाली ढग से आ जाते हैं। कथोपकथन मे लेखक को अपने कौशल का पूरा-पूरा परिचय देना पडता है और बहुत अधिक धैर्य-रखना पड़ता है, तभी उसकी रचना मे स्पष्टता और स्वाभाविकता आ पाती है। कथोपकथन को किसी विचार की अभिव्यक्ति का वाहन विचार ही के लिए नही होना चाहिए। विचार वही तक ग्राह्य है, जहाँ तक वे उन पात्रो पर प्रकाश डालते है, जो उन्हे अभिव्यक्त करते है। कथोपकथन के लिए उपन्यास के अन्य तत्वो की अपेक्षा अधिक कला आवश्यक होती है, क्योकि वास्तविक न होते हुए भी उन्हे वास्तविक

जैसा प्रतीत होना चाहिए। उपन्यास के कथोपकथन में स्वतः स्फूर्ति आवश्यक है। यह पात्रो के मध्य की स्थिति को दिखाने का आदर्श साधन है। यह सम्बन्धो को प्रकाशित करता है। इसे इतना प्रभावोत्पादक होना चाहिए कि पात्रो के पारस्परिक सम्बन्धो का विश्लेषण अथवा व्याख्या अनावश्यक हो जाए। कथोपकथन सर्वाधिक दृश्य और प्रभावमय आतर क्रिया है, जिसे उपन्यास के पात्र कुशलता से पूरा करते है। यह पात्रों के मानसिक प्रत्यक्षीकरण का साधन है।

देश-काल और वातावरण

उपन्यास साहित्य भी अन्य विधाओ के समान ही लेखक के कल्पना-व्यापार के फलस्वरूप ही अपना रूप-आकार प्राप्त करता है। काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य का आभास प्रस्तुत करता है अथवा यह भी कह सकते हैं कि सत्य या यथार्थ की भ्राति उत्पन्न करता है। सत्य न होते हुए भी सत्य जैसा प्रतीत हो, ऐसा करना रचनाकार के लिए आवश्यक होता है। इस कार्य मे उसे जिस सीमा तक सफलता प्राप्त होती है, उसी सीमा तक उसकी रचना भी सफल सिद्ध होती है। इसके लिए वह अपने विविध कलात्मक साधनो का उपयोग करता है, उनमे देश-काल और वातावरण की निर्मिति का भी अपना विशेष महत्त्व होता है।

लेखक जो रचना प्रस्तुत करता है, उसका सम्बन्ध किसी न किसी स्थान-विशेष से होता है। केवल घटना प्रधान उपन्यास ऐसे हो सकते है जो देश या स्थान की विशिष्ट बातो के उल्लेख के बिना घटना-क्रम के विकास को दिखा सके, यथार्थ के स्वरूप की रक्षा के लिए उनके लिए भी यह आवश्यक होता है कि वे स्थानिक विशेषताओ को समेट कर चले। देश या स्थान में राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक परिस्थितियों और परम्पराओ आदि को ग्रहण किया जाता है, किन्तु ये सारी स्थितियाँ सर्वदा एक समान नही होती, वरन् निरन्तर परिवर्तनशील रहती हैं। इस कारण देश के साथ काल सम्बद्ध रहता है और दोनो के आधार पर ही राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विशेषताओ का अकन उपन्यास मे होता है। उपन्यासकार का उद्देश्य प्रधानतः प्रभाव-निर्मिति है और प्रभाव-निर्मिति के लिए देश-काल का चित्रण आवश्यक होता है। कोई भी पात्र अपने परिवेश मे जीता है। परिवेश से विच्छिन्न परिस्थिति में उसका चरित्राकन अत्यन्त कठिन होता है। कोई व्यक्ति कितना ही महान् क्यो न हो, किन्तु उसे अपने परिवेश से विलग करके नही देखा जा सकता। वह वस्तुतः अपने परिवेश से विकसित होता है। जीवन के प्रति उसका जो दृष्टिकोण बनता है, उसके लिए कुछ सीमा तक उसका परिवेश उत्तरदायी होता है। वह अपनी

सामाजिक, सास्कृतिक चेतना, पुरानी परम्पराओ का अतिक्रमण कर सकता है, किन्तु अतिक्रमण के लिए भी उसे अपनी परिस्थितियो से जूझना पडता है । इस कारण निषेधात्मक रूप मे ही सही, पर परिस्थितियाँ उसके निर्माण मे स्थित रहती हैं । उपन्यासकार जब अपने पात्रो को अपनी रचना मे जीवन के विविध पक्षो को अनुभूत करने के लिए और क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए योजित करता है तो वह उन्हे देश-काल से सम्बद्ध स्थिति मे ही दिखलाता है । ऐसा होने पर ही पात्रो मे सजीवना होगी और कथानक प्रवाह अविच्छिन्न बना रहेगा । इसी कारण कथानक के पात्र वास्तविक पात्र के समान देश-काल के बन्धन मे रहते है । यदि उन्हे देश-काल के बन्धन मे न दिखाया जाए तो उनका स्वरूप ही कुछ इतना रहस्यमय होगा कि पाठक कुछ भी समझ न सकेगा । आधुनिक युग मे जो उपन्यास लिखे जा रहे है, उनमे वातावरण की प्रधानता रहती है और ऐसा होने के कारण ही ऐसे उपन्यास यथार्थ का सर्वोत्तम आभास प्रस्तुत कर पाते है ।

आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित हो रही है कि किसी वस्तु का अकन इस रूप मे किया जाए कि एक तो उसका अत्यन्त स्पष्ट चित्र पाठक के मन:-पटल पर अकित हो जाए और दूसरे उसका विध्यात्मक प्रभाव पडे । लेखक जिस वस्तु-विशेष को अपने पाठको तक सप्रेषित करना चाहता है, उसका उचित रीति से सम्प्रेषण हो सके । ऐसा करने के लिए लेखक के लिए देश-काल की सूक्ष्मतम विशेषताओ का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए । समाज, सस्कृति, धर्म, रीति-परम्परा, वेश-भूषा आदि के सम्बन्ध मे उसका निश्चयात्मक ज्ञान होना चाहिए, क्योकि इन्ही के सहारे वह अपने कथानक को खड़ा कर सकता है । इसके अतिरिक्त लेखक को भौगोलिक जानकारी भी बहुत अच्छी होनी चाहिए । किसी प्रदेश-विशेष का वर्णन करते समय लताओ, गुल्मो, वृक्षो, फूलो, शस्य आदि के वर्णन देश-काल के अनुकूल हो । ये देखने मे सामान्य-से लगते है, किन्तु रचना मे इनका विशेष महत्त्व होता है । लेखक जिस यथार्थ-निर्मिति के लिए इतना अधिक श्रम करता है, वह सामान्य च्युति से धराशायी हो जाती है

आजकल सामाजिक उपन्यासो मे एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । लेखक किसी क्षेत्र-विशेष को केन्द्र मे रख कर अपने कथानक का निर्माण करता है । उसका उद्देश्य होता है उस क्षेत्र के जन-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना, जिसे वह बदलते हुए परिवेश मे अत्यत सूक्ष्म रूप मे अकित करने का प्रयास करता है । प्रेमचन्द ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई थी, किन्तु उनके चित्रण मे क्षेत्रीय रग हलके रूप मे ही उभरा है, जबकि क्षेत्रीय रग को प्राधान्य देने वाले ऐसी प्रत्येक सभव शिल्प-विधि अपनाते हैं जो क्षेत्रीय रग को उभारने मे अधिक से अधिक सफल हो । ऐसा करने के लिए उन्हे देश-काल और वातावरण को सबसे अधिक महत्त्व देना पडता है । वे क्षेत्र-

विशेष के जन-जीवन की साधारण से साधारण और सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को कुशलता से अंकित करने का प्रयत्न करते है। उनकी निरीक्षण-शक्ति जितनी प्रबल होती है और क्षेत्र-विशेष के जीवन का जितना व्यापक ज्ञान होता है, उनकी रचना उसी अनुपात मे सफल सिद्ध होती है। 'रेणु' जैसे उपन्यासकार को इसी कारण इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई है। आंचलिक उपन्यास का शिलान्यास ही इस आधार पर होता है, किन्तु सामाजिक उपन्यास मे यह गौण तत्त्व होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। लेखक समाज के जिस स्तर को लेकर चलता है, उसके सम्बन्ध मे उसकी जानकारी यथेष्ट होनी चाहिए। निम्नवित्तीय वर्ग, मध्यवित्तीय वर्ग, उच्चमध्य-वित्तीय वर्ग, उच्च वर्ग सब की अपनी अपनी विशेषताएँ है, अपनी-अपनी जीवन-दृष्टियाँ है। उन सब का प्रभावशाली अंकन उनकी अपनी पृष्ठभूमि मे ही हो सकेगा। प्रेमचन्द ने प्रायः समस्त वर्गों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है, किन्तु कोई भी वर्णन अस्वाभाविक नही प्रतीत होता। मध्य वित्तीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि जैनेन्द्र कुमार ने अत्यन्त मार्मिक रूप में अंकित की है। वस्तुतः उपन्यास की प्रभावमयता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए और अपने चित्रण-वर्णन को निर्दोष रखने के लिए लेखक के लिए यह आवश्यक रहता है कि वह अपनी आँखे खुली रखे और जिस समाज-विशेष का वह चित्रण कर रहा है, उसके प्रत्येक स्पन्दन और प्रत्येक क्रिया-व्यापार को इस रूप मे निरीक्षित करे कि वह सब उसकी रचना-सामग्री होकर उसके प्रतिपादन सशक्त और सजीव बना सके।

ऐतिहासिक उपन्यास की रचना मे रचनाकार को आंचलिक उपन्यास के समान ही या उससे कुछ अधिक देश-काल और वातारण की निर्मित के लिए सजग रहना पडता है। कुछ लोग ऐसा मानते है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सरल होता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा होता नही। कथानक का ज्ञात होना अपने आप मे सब कुछ नही है। ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करना विशेष जटिल होता है। उसे ऐसे सजीव वातावरण का निर्माण करना पडता है कि पाठक को आरम्भ से ही यह अनुभव होने लगता है कि वह अपने युग से दूर किन्ही भूतकालीन परिस्थितियो मे पहुँच गया है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को और अधिक मार्मिक ढग से प्रस्तुत करने के लिए ऐसी भूमिका की योजना करते हैं, जिसे पढकर पाठक कुछ ऐसी स्थिति मे आ जाएँ कि लेखक स्वय अपनी उद्भावित वस्तु नही प्रस्तुत कर रहा है, पूर्वकाल के किसी प्रामाणिक कथ्य को किंचित् परिवर्तन के साथ अपने शब्दो मे अंकित भर कर रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' मे इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। कुछ अन्य

उपन्यासकारो ने भूमिका की इस प्रकार की शैली का अथवा कुछ भिन्न शैली का प्रयोग किया है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहासकार नही होता, किन्तु इतिहास और पुरातत्व के शुष्क गवेषण को रागात्मक परिधान प्रदान करने वाला ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न लेखक होता है। कुछ रचनाकार ऐसे भी हो सकते है जो स्वय अपने गवेषण से प्राचीन इतिहास के अन्धकाराच्छन्न प्रकोष्ठ को आलोकित भी करते है और उस ऐतिहासिक गवेषण को रागात्मक रूप प्रदान कर साहित्य का उपादान भी बनाते है। ऐसे लेखको मे श्री जयशकर प्रसाद अग्रगण्य है। उनकी खोजो ने इतिहासकारो को भी दृष्टि प्रदान की है।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन मे कल्पना-शक्ति का सबसे अधिक उपयोग करना पडता है। लेखक को अपनी कल्पना की आँखो से अतीत के साधारण से साधारण चित्र को प्राचीनता के ही रंग मे देखना पडता है। जिस किसी वस्तु, दृश्य, घटना, क्रिया-व्यापार, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक आदि की उसे वर्णना करनी होती है, उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे, तत्कालीन परिवेश मे ही देखना पडता है। बहुत सजग होकर उसे पद-निक्षेप करना पडता है। उसके सामने पद-पद पर खतरे है, जरा-सा चूका कि उसकी सारी योजना मिट्टी मे मिल गई। जिस व्यापक धरातल पर उसे वातावरण का निर्माण करना पडता है, उसे वही समझ सकता है। पुरातन को अपनी नूतन दृष्टि से पकडकर उसे यह आभास देना पडता है कि सब पुराना ही है, किसी काल-खड का चित्र है। इस कारण ऐतिहासिक उपन्यास लेखक को विशेष रूप से कौशल-सम्पन्न होना चाहिए, अन्यथा जिस उद्देश्य से परिचालित होकर वह सर्जना करता है, उसका वह उद्देश्य पूरा न हो सकेगा।

ऐतिहासिक उपन्यास मे यदि देश-काल का अतिक्रमण कर किसी स्थायी और सार्वभौमिक तत्व की खोज का प्रयत्न हुआ तो उपन्यास की प्रभावान्विति मे व्याघात उपस्थित हो जाएगा। कुशल रचनाकार देश-काल की परिधि ही मे स्थायी तथा सार्वभौमिक तत्वो को व्याख्यायित कर सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास मे देश-काल का आभास देने के लिए वस्तुओ आदि के नामो को युग-विशेष में प्रचलित नाम देने से प्रभाव और अच्छा पडता है और परिस्थिति के यथार्थ का बोध होता है। वस्तुओं के ही नाम नही, वरन् व्यक्तियो के नाम भी काल-विशेष के नामो से मेल खाने चाहिए। दैनन्दिन जीवन के व्यवहार मे वार्त्तालाप का रूप भी तत्कालीन परिवेश के अनुकूल होना चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यास मे वातावरण के निर्माण के लिए भाषा का भी विशेष

रूप मे प्रयोग करना पडता है । हिन्दी के उपन्यासो मे सस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करके लेखक प्राचीन परिवेश का आभास देने का प्रयास करता है । सामाजिक उपन्यासों मे भी भाषा के प्रयोग को महत्त्व दिया जाता है और व्यक्ति-विशेष के सामाजिक और पारिवारिक परिवेश को ध्यान मे रख कर उसका प्रयोग किया जाता है । किन्तु भाषा अनेक साधनो मे से एक है, यह ध्यान मे रखना आवश्यक होता है, अन्यथा भाषा के नाम पर अजायबघर की निर्मिति हो सकती है । भाषा का प्रवाह सहज और स्वाभाविक हो और पात्रो की सामाजिक, सास्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुकूल हो, लेखक को यह ध्यान में रखना चाहिए ।

प्राकृतिक वातावरण—प्रकृति काव्य की प्रायः समस्त विधाओ मे किसी न किसी रूप में अंकित होती रही है । आज के वैज्ञानिक युग मे भी मानव का मन प्रकृति के शामक-सुखद सान्निध्य को छोडने के लिए तत्पर नही है । विज्ञान ने प्रकृति के अतरंग और बहिरग दोनो का साक्षात्कार किया है । धरती और अन्तरिक्ष की कोखो के कण-कण को जानने के लिए मनुष्य आकुल है । बहुत कुछ जान भी लिया है और जो जान नही पाया है, उसे जानने के लिए दुगुने उत्साह से आगे बढ रहा है, फिर भी प्रकृति का स्वरूप उसके लिए मोहक है । उषा का मनः पूत राग, चन्द्रिका की धवल मुस्कान, मेघो के गर्जन के साथ विद्युत् का हास, सागर का फेनोच्छ्वासित भाव से लहराना, सरिता का कल कूजन, पक्षियो का अभिराम उड्डयन और न जाने क्या-क्या, अभी पुराने नही पडे हैं । आज का मानव अब भी मत्र-मुग्ध भाव से यह देखता है और प्रकृति के सुरम्य क्रोड मे कुछ क्षणो के लिए अपने आप को भूल जाता है । कवि प्रकृति के विविध रूपो पर मुग्ध होकर उसका मूकभाव से स्तवन करता है, पर दूसरे कल्पनाशील लेखक भी अपनी कोमल सवेदना के कारण प्रकृति को भूल नही पाते और किसी न किसी रूप मे प्रकृति को अपनी रचना मे स्थान देते ही है । उपन्यास की भूमि व्यापक होती है । जीवन के विविधि, जटिल पक्षो का उसमे रूपायन होता है । जीवन को सामान्य रूप मे प्रकृति से विच्छिन्न करके नही देखा जा सकता । इसी कारण उपन्यास मे प्रकृति विविध रूपो मे हमारे सामने आती है । उन समस्त रूपो मे वातावरण या पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृति अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है । किसी भी घटना-विशेष अथवा क्रिया-विशेष से पहले सक्षेप मे प्राकृतिक पृष्ठभूमि का वर्णन रचना की रोचकता को बढा देता है, किन्तु अनावश्यक रूप मे प्राकृतिक दृश्यो के लम्बे-लम्बे वर्णन कथानक के प्रवाह मे बाधक सिद्ध होते है । उपन्यास मे पाठक का ध्यान सर्वदा कथानक के प्रवाह और चरित्र के विकास पर रहता है । इस कारण वह सक्षिप्त, साकेतिक प्रकृति-दृश्य-वर्णन को सहन कर पाता है, क्योकि ऐसे वर्णन रचना के सौंदर्य को बढ़ाने मे सहायक सिद्ध होते है ।

उपन्यासो मे आलकारिक रूप मे प्रकृति की अवतारणा बहुत कम होती है, किन्तु होती अवश्य है। अत्यधिक आलकारिक वर्णन गद्य के स्वरूप के लिए घातक सिद्ध होता है। प्रकृति को उपन्यासकार मानवीय भावो के उद्दीपक रूप मे प्रस्तुत कर सकता है, परन्तु ऐसा करते समय भी उसे औचित्य और प्रसगानुकूल्य को ध्यान मे रखना होगा। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ प्रकृति-दृश्य पात्रो के भावो को उद्दीपित करते है।

उपन्यास मे प्रकृति को मानवीकृत रूप मे प्रस्तुत करना भी विशेष प्रभावशाली सिद्ध होता है। ऐसे उपन्यास भी लिखे गए है और लिखे जा सकते है, जिनमे प्रकृति के विशेष उपादान ही पात्र रूप मे प्रस्तुत किए जा सकते है। इस प्रकार के पात्र प्रतीकात्मक भी हो सकते है और साहजिक भी। अततः उपन्यास का सारा व्यापार लेखक का कल्पना-व्यापार ही तो है।

बाह्य दृश्य-विधान अनेक रूपो मे रचना के सौंदर्य को बढाता है, किन्तु इसका प्रयोग करते समय लेखक को औचित्य, अनुकूलता और स्वाभाविकता पर ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा विपरीत प्रभाव पड सकता है।

देश, काल और वातावरण औपन्यासिक सृष्टि को स्वाभाविक बनाते है और यथार्थ का आभास प्रस्तुत करते है। इसलिए सामाजिक, प्राकृतिक और ऐतिहासिक सभी प्रकार की स्थितियो को ध्यान मे रख कर रचनाकार को बाह्य दृश्य-विधान को प्रस्तुत करना चाहिए। यदि उसके किसी वर्णन-विशेष से पाठक के मन मे सदेह उत्पन्न हुआ तो उसका सारा रचना-विधान ही त्रुटिपूर्ण सिद्ध होगा।

प्राकृतिक दृश्य-विधान हो अथवा और किसी प्रकार के वातावरण की प्रस्तुति का प्रश्न हो, लेखक को सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन परिस्थितियो में वह उन्हे प्रस्तुत कर रहा है, उन परिस्थितियो मे वे सगत है या नही। उपन्यास जिस प्रभाव-निर्मिति के उद्देश्य से लिखा जा रहा है उसमे वे विधान सहायक है या बाधक हैं। उपन्यास साहित्यिक विधा है। इस कारण उसमे जो कुछ चित्रित किया जाएगा, वह तथ्यात्मक मात्र न होकर रागात्मक होता है। वातावरण के सजीव चित्रण के लिए लेखक मे जिस प्रकार सहृदयता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार वातावरण के हृद्य-आकर्षक वर्णन का आस्वादन करने के लिए पाठक मे भी सहृदयता अपेक्षित होती है। कथानक के प्रवाह मे बहते जाना ही अपने आप मे अल नही होता। प्रवाह के साथ बहते-बहते आस-पास की दृश्यावलि मे भी मन को रमाते जाना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस रूप में आस्वादन अधिक तीव्र बन पाता है और अनुभूति मे सांद्रता आती है। किन्तु ऐसे दृश्य-विधान परिस्थिति के अनुकूल और नपे-तुले होने चाहिए।

जहाँ देखो, वही कोई न कोई दृश्य-विधान है, जहाँ देखो, वही प्रकृति के किसी पक्ष का वर्णन है तो रचना मे एक प्रकार की एकरसता आ जाती है और जो दृश्य-विधान प्रभाव को और गहरा बनाने के उद्देश्य से किया जाता है, वह भी अपने प्रयोजन को सिद्ध नही कर पाता ।

शैली

प्रत्येक प्रकार की कल्पना प्रधान रचना में शैली का विशेष महत्त्व होता है। मूलतः शैली ही एक ऐसा तत्त्व है जो रचनाकार के वैशिष्ट्य का उद्घोष करता है। विषय-वस्तु को जिन प्रणालियो से तथा जिन साधनो से प्रस्तुत करने का प्रयत्न होता है, उन सब का समावेश शैली तत्त्व मे हो जाता है। भारतीय साहित्य-शास्त्र मे इसे ही रीति कहते है। वामन की दृष्टि मे विशिष्ट पद-रचना ही रीति है। वामन की रीति को ही आनन्दवर्धन ने सघटना का नाम दिया है। उनके अनुसार संघटना तीन प्रकार की होती है—समास-रहित, मध्यम समास से भूषित तथा दीर्घ समास युक्त। ये तीनो वामन की क्रमशः वैदर्भी, पाचाली और गौडीय रीतियाँ ही है। आनन्दवर्धन ने सघटना और गुणो को अन्योन्याश्रित सिद्ध किया है, किन्तु गुण को आधार माना है और सघटना को आधेय। संघटना गुणो का आश्रय ग्रहण कर रस को अभिव्यक्त करती है।[1] सघटना के तीनो रूपो में समास रहित सघटना उपन्यास के लिए उपयुक्त होती है और यह प्रसाद गुण सम्पन्न होती है। प्रसाद गुण मे समस्त रसो के प्रति समर्पकत्व गुण होता है और इसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है। प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। यह एक ऐसा गुण है जो सर्वसाधारण रूप मे सभी रचनाओ मे हो सकता है। यह गुण अन्य गुणो की तुलना मे अधिक प्रभावशाली होता है और पाठको पर इसका प्रभाव उसी रूप मे पडता है, जिस रूप मे सूखी लकडी पर अग्नि का होता है।[2] शैली मूलतः व्यक्ति-सापेक्ष होती है। प्रत्येक लेखक अपनी शैली का निर्माण स्वय करता है। शैली ही ऐसा तत्त्व है, जिससे लेखक के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। विषय-वस्तु आदि की मौलिकता तो महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है शैली की मौलिकता। वस्तुतः रचना की मौलिकता का बहुत कुछ शैली पर निर्भर करता है।

---

१. ध्वन्यालोक, ३, ५—६।

२. ध्वन्यालोक, २, १०।

एक ही विषय पर दो या अधिक लेखक लिखे, प्रत्येक अपनी अभिव्यक्ति की विशिष्टता के कारण दूसरे से भिन्न होगा। इसीलिए शैली ही व्यक्ति है, कहना अधिक यौक्तिक प्रतीत होता है। शैली को हम प्रकारान्तर से अभिव्यजना-कौशल कह सकते है। तत्वतः शैली और विषय-वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। दोनो एक-दूसरे मे घुले-मिले रहते है। जैसा विषय होगा, लेखक को उसी के अनुरूप शैली अपनानी पडेगी और यदि वह उस प्रकार की शैली न अपना सका तो उसका विषय लडखडा जाएगा। कुछ लोग शैली को गुण के रूप मे स्वीकार करते है। अच्छे लेखक अच्छे शैलीकार होते है। इससे तो यह आशय भी ग्रहण किया जा सकता है कि जो अच्छे लेखक नही होते, उनमे शैली का अभाव रहता है। बर्नार्ड शॉ के अनुसार पूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ और इति है। वस्तुतः लेखक अपने जिस विषय की प्रस्तुति करना चाहता है, उसकी प्रभावमयी अभिव्यजना के निमित्त वह जितने प्रकार की प्रणालियो का उपयोग करता है, वे सब शैली के अन्तर्गत आती है। जो लेखक जितनी कुशलता और सुन्दरता से यह काम सम्पन्न कर पाता है, वह उतना ही सफल शैलीकार माना जाता है।

सारा काव्य-व्यापार शब्द-अर्थ का व्यापार है। लेखक की क्षमता पर ही यह निर्भर करता है कि वह साहित्यार्णव मे डुबकी लगा कर शब्दो को खोज कर बाहर निकाले और उन्हे अपनी प्रतिभा की खराद पर चढा कर उल्लीढ मणि का रूप प्रदान करे। जाने-पहचाने और नित्य प्रति प्रयोग मे आने वाले शब्दो मे वह नव जीवन और नवविच्छित्ति भर सकता है। अच्छे लेखक का अच्छा शब्द-पारखी होना नितात अपेक्षणीय होता है। कवि की तुलना मे उपन्यासकार का क्षेत्र विशाल होता है और उसका दायित्व गुरु-गंभीर होता है। वह जिस विधा को लेकर चलता है, वह विधा अपने आप मे व्यापक होती है और उसका प्रसार एक बहुत बडे जन-समुदाय मे होता है। अतः उपन्यास सामान्य जन के निकट भी पहुँचने का अच्छा साधन होता है। इस कारण उपन्यास की भाषा का रूप कुछ भिन्न प्रकार का होना चाहिए, परन्तु सभी प्रकार के उपन्यासो के लिए ऐसा नही कहा जा सकता। लेखक को उपन्यास की विषय-वस्तु को ध्यान मे रख कर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यदि लेखक सचमुच भाषा का सफल प्रयोक्ता है तो वह विषय-वस्तु, स्थिति, औचित्य आदि को ध्यान मे रख कर भाषा का प्रयोग कर सकता है और अपेक्षित प्रभाव का निर्माण कर सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आए है कि उपन्यास की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न होनी चाहिए। इस कथन से हमारा यही आशय है कि उपन्यास की भाषा स्वच्छ और गम्य होनी चाहिए। उसमे दुरूहता और दुर्बोधता नही होनी चाहिए, अन्यथा उसका प्रवाह विच्छिन्न हो जाएगा। उपन्यास-पाठक से लेखक की यह अपेक्षा नही होनी चाहिए कि

वह पदे-पदे शब्दकोश का साहाय्य ले ही। आवश्यकतानुसार भाषा का रूप परिवर्तित हो सकता है, किन्तु प्रत्येक अवस्था मे उसकी प्रवाहमयता अपेक्षणीय होती है। कविता की भाषा में समान अलकारमयी भाषा उपन्यास के लिए वर्जित होती है और इसी प्रकार कहानी की पहाडी नदी के समान क्षिप्रगामिनी भाषा भी उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल नही पडती। उपन्यास की भाषा समतल भूमि मे प्रवहमान सरित् की उस धारा के समान होती है जो सुदूरवर्ती अपने दोनो कूलो को स्पर्शित करती, अपने आप मे डूबी, पूरी गरिमा के साथ मथर गति से आगे बढ़ती है जो ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई कुल-ललना है, जिसे अपने सुहाग का गर्व है और जिसे अपनी मर्यादा का भान है। उपन्यास-लेखक समन्तात् अपनी दृष्टि डालकर आगे बढ़ सकता है, इस कारण आवेगमयी भाषा उसके लिए उपादेय सिद्ध नही हो सकती। कही-कही भाषा का भावमय प्रयोग वह कर सकता है, किन्तु सर्वत्र नही। वैचारिक धरातल को स्पृष्ट करने वाली भाषा व्यावहारिक अधिक होती है और व्यावहारिक भाषा मे प्राण फूँक कर, उसकी आंतर छवि को प्रकाशित करते हुए उसे ऐसी कुशलता से प्रयुक्त करना कि वह पूर्णतया नवता धारण कर ले, यह कुशल शैलीकार और भाषा-प्रयोक्ता का सर्वश्रेष्ठ गुण है। जाने-पहचाने शब्द ही ऐसे प्रतीत हो मानो अभी-अभी टकसाल से निकल कर आए हैं। जो लेखक ऐसा कर सके वह उपन्यास-लेखन मे अपनी शैली के कारण अविस्मरणीय रहेगा।

सामान्यतः उपन्यास-रचना मे भाषा का चार रूप मे प्रयोग होता है। वे चार रूप है स्थिर, गतिशील, अलकृत और काव्यात्मक। स्थिर भाषा भाषा के सामान्य प्रयोग के कारण कही जाती है। जिस प्रकार इतिहास-लेखक या दार्शनिक तथ्य-निरूपण के लिए भाषा का प्रयोग करता है, उसी प्रकार स्थिर भाषा का उपन्यासकार भी। भाषा का तथ्य-निरूपक रूप साहित्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध नही होता, उसका अभि-व्यजक रूप ही श्लाघ्य सिद्ध होता है। इसी कारण स्थिर भाषा का प्रयोग साहित्यिक रचनाओ मे समादृत नही हो पाता। उपन्यास-रचना मे गतिशील भाषा सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। पात्रो की मनःस्थिति, परिवेश आदि के आधार पर ही भाषा का रूप-निर्माण होना चाहिए। आद्यन्त भाषा का एक ही रूप एकरसता उत्पन्न कर देता है। सफल साहित्यकार की भाषा गत्यात्मक होती ही है, क्योकि समस्त परिस्थितियो को देखते हुए वह अपनी भाषा का रूप-निर्माण करता है और उसका मूल उद्देश्य रहता है अभिव्यंजन। अभिव्यंजन जिस किसी भी रूप मे सुन्दर रीति से सम्पादित हो सके, उसे वह अपना लेता है। गतिशील भाषा मे स्थिर, अलकृत और काव्यात्मक सभी रूप सन्नि-विष्ट हो जाते है। विशेषता केवल इतनी रहती है कि उक्त सभी रूप परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार मे आते हैं और कही भी इनका आतिशय्य दृष्टिगत नही होता। अलंकृत भाषा मे एक प्रकार की मथरता आ जाती है और भाषा का सहज प्रवाह

अवरुद्ध हो जाता है। कहीं-कही ऐसी भाषा का प्रयोग करना बुरा नही है, किन्तु समस्त उपन्यास मे अलकृत भाषा का प्राचुर्य उसे भाराक्रान्त बना देता है। काव्यात्मक भाषा मे विचार-तत्त्व दब जाते है और भाव-तत्त्व प्रधान हो जाते है। काव्यात्मक भाषा मे एक प्रकार की लयात्मकता आ जाती है। लयात्मकता प्रभावशाली सिद्ध होती है, किन्तु रचना मे सर्वत्र भाषा का ऐसा रूप होना कथानक के विकास मे सहायक नही होता। आजकल कुछ ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे है, जिनमे प्रगीतात्मक तत्त्व का प्राचुर्य होता है और वे लघुकाय होने के कारण प्रभावाभिव्यजक सिद्ध होते हैं। उन्हे पढते समय प्रगीत का-सा आनन्द आता है।

उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध मे अनेक मत-मतान्तर है। कुछ उपन्यास-लेखक-समालोचक उपन्यास मे काव्यात्मक भाषा का प्रयोग वर्ज्य समझते है। उनके अनुसार उपन्यास की भाषा गतिशील और तथ्याभिव्यजक होनी चाहिए। कुछ ऐसे भी लेखक-आलोचक हैं जो मध्यम मार्ग को अपना कर चलना समीचीन समझते है। वस्तुतः उपन्यास की भाषा मात्र तथ्याभिव्यंजक हो, यह उचित नहीं है। ऐसा होने पर उपन्यास, इतिहास, दर्शन आदि की भाषा मे किसी प्रकार का अंतर नही रह जाएगा। उपन्यास साहित्यिक विधा है, उसमे भाषा का भावमय प्रयोग आवश्यक होता है, किन्तु उपन्यास मे वैचारिक धरातल कुछ ऊँचा होता है। इस कारण भावमय प्रयोग की अतिशयता प्रभाव-निर्मिति मे साधक नही सिद्ध होगी, परन्तु यथावसर भावमय प्रयोग उसके सौंदर्य के उत्कर्ष मे सहायक ही सिद्ध होगा। गद्य को नीरस नही कहा जा सकता, वह भी पद्य के समान ही रस का वाहक है और यह मानना कि गद्य का स्वरूप केवल तथ्याभि-व्यजक ही होता है, उचित नही है। भाव और तथ्य दोनो की व्यजना उससे होती है और उपन्यास मे दोनो की स्थिति रहती है। जीवन गद्यात्मक (नीरस) ही नहीं है और काव्यात्मक ही नही है। दोनो का मिला-जुला रूप है। अतः उपन्यास की भाषा भी दोनो के मिले-जुले रूप की परिचायिका होनी चाहिए। अततः उपन्यास जीवन की व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। अत॰ उसे जीवन के समान ही गतिशील होना चाहिए और उसकी भाषा भी गतिशील होनी चाहिए।

उपन्यास की भाषा सहज प्रवाहमय होनी चाहिए। उसमें इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह पाठको को प्रभावित कर सके। ऐसा करने के लिए उपन्यासकार को निम्नलिखित बातो पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(१) **शब्द-प्रयोग**—शब्द ही अभिव्यक्ति के साधन है। लेखक को शब्द की प्रकृति, उसकी आन्तर छटा और उसके विविध अर्थों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उसे यह भी जानना चाहिए कि किस समय किस रूप में उसका प्रयोग होना चाहिए। अनेकार्थी शब्दो के प्रयोग के समय उसे भाव-व्यजना की ओर विशेष ध्यान

रखना चाहिए। अच्छा शब्द-प्रयोक्ता ही सफल रचनाकार हो सकता है।

(२) **वाक्य-विन्यास**—शब्द वाक्य मे प्रयुक्त होकर ही अपनी अर्थमत्ता का प्रकाशन करते है। वाक्य-रचना-विधान की ओर लेखक को अधिक सावधान रहना पडता है। सारी सघटना इसी पर निर्भर करती है। अच्छा से अच्छा शब्द-प्रयोक्ता यदि सुगठित-संघटित वाक्य-विन्यास न कर सका तो अपनी रचना-प्रक्रिया मे असफल सिद्ध होता है। शिथिल, जटिल, गूढ और असमर्थ वाक्य-विधान रचना की शक्ति को घटा देते हैं।

(३) **प्रौढ़ता**—भाषा मे प्रौढता और प्रस्तुत विचार या भाव की अभिव्यक्ति की शक्ति होनी चाहिए। लेखक जो कुछ सप्रेषित करना चाहता है, उसका सप्रेषण सहज रूप मे होना चाहिए। शिथिल और असमर्थ भाषा रचना की प्रभावशीलता के लिए घातक सिद्ध होती है।

(४) **प्रवाह**—उपन्यास की भाषा मे सहज प्रवाह होना चाहिए। लेखक जो कुछ प्रस्तुत करना चाहता है, उसे इस रूप मे भाषा का आच्छद देना चाहिए कि किसी भी रूप मे ऐसा प्रतीत न हो कि उसमे सायासता है। अनगढ, अप्रचलित, अप्रयुक्त शब्दो का प्रयोग नही होना चाहिए। यदि ऐसा कोई प्रयोग अनिवार्य प्रतीत हो तो उसके लिए आवश्यक भूमि निर्मित कर लेनी चाहिए, जिससे प्रयोग अस्वाभाविक प्रतीत न हो।

(५) **प्रभावमयता**—भाषा का सबसे बडा गुण है प्रभावमयता। लेखक की चरम सफलता इसी मे निहित है। वह स्वय शिल्पी होता है। उसके सारे साधन प्रभाव-निर्मिति की ओर ही उन्मुख रहते हैं। जिस रूप मे भी वह अपनी भाषा को प्रभावमय बना सके, वही रूप उसके लिए ग्राह्य सिद्ध होता है।

भाषा साधन ही है, साध्य और कुछ है। यह बात सर्वदा लेखक की दृष्टि मे होनी चाहिए। यदि उसने साधन को ही साध्य मान लिया तो जिस उद्देश्य से परिचालित होकर वह रचना-कार्य मे प्रवृत्त होता है, उसका वह उद्देश्य बिखर जाएगा। भाषा शैली की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती। प्रत्येक लेखक की अपनी भाषा-शैली होती है और होनी भी चाहिए।

शैली का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है रूप-विधान। रूप-विधान के मुख्य रूप से निम्नलिखित रूप पाए जाते है :

(१) कथात्मक शैली या ऐतिहासिक शैली।
(२) आत्मकथात्मक शैली अथवा आत्मनेपद की शैली।
(३) पत्रात्मक शैली।
(४) नाटकीय शैली।
(५) दैनन्दिनी (डायरी) शैली।

(६) मिश्रित शैली ।

(१) **कथात्मक शैली या ऐतिहासिक शैली**—विश्व के अधिकाश उपन्यास कथात्मक शैली मे लिखे गए है । इस शैली मे लेखक अपने पात्रो को अन्य पुरुष मे प्रस्तुत करता है और उनका वर्णन करता जाता है । जहाँ जिस रूप मे वह आवश्यक समझता है, अपनी ओर से टिप्पणी देता जाता है । वह तटस्थ भाव से अपना रचना मे वर्तमान रहता है और अपने पात्र के विकास को देखता रहता है । इस प्रकार की शैली मे सर्वज्ञता की दृष्टि अपनाकर चलना पडता है । लेखक को अपनी विवृति इस रूप मे प्रस्तुत करनी पडती है कि उसके पाठको को यह बोध हो जाए कि वह जिन पात्रो का वर्णन कर रहा है, उनके सम्बन्ध मे सब कुछ जानता है । यह बात दूसरी है कि वह सब कुछ कह देना नही चाहता । इस शैली से पात्रो के मनोवैज्ञानिक चित्रण का अच्छा अवसर मिलता है, क्योकि लेखक को अपनी ओर से बहुत कुछ कहने की गुंजाइश रहती है । इस शैली को अपनाकर चलने वाला लेखक अपने विचारो, मान्यताओ और अपने जीवन-दर्शन को अधिक स्वतत्रता से प्रस्तुत कर सकता है । वैसे अन्य समस्त शैलियो मे भी वह स्वतंत्र रहता ही है, किन्तु शैली-विशेष के कारण उसे कुछ बन्धनो को स्वीकार करके चलना पडता है; जबकि इसमे ऐसा नही होता । वह कथानक के विकास को, वातावरण की निर्मिति को, कथोपकथन की सहजता और सजीवता को, चारित्रिक विकास को और अपने उद्देश्य को सरलतया इस शैली के माध्यम से अत्यन्त व्यवस्थित और विश्वसनीय रूप प्रदान कर सकता है । इस शैली मे लेखक उन समस्त बातो को बताता चलता है, जिनका बताना वह कहानी को समझने और पात्रो के विकास के लिए आवश्यक समझता है । वह अपने पात्रो के संवेग, उनकी मनोवृत्ति आदि की विवृति उपन्यास के भीतर से प्रस्तुत कर सकता है । सर्वज्ञता की दृष्टि से लिखा गया उपन्यास बोझिल, अति विस्तीर्ण और प्रसृत हो जाता है । इस प्रकार की उपन्यास-रचना मे तॉलस्तॉय को अच्छी सफलता मिली है । किन्तु उनकी रचनाओ मे भी उक्त दोष मिलते है । इस प्रकार की रचना मे लेखक को अपने पात्रो के भीतर प्रवेश करना पडता है, उनके भावो को अनुभूत करना पडता है, उनके विचारों को विचारना पडता है; किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं । वह इस प्रकार की रचना मे वही तक अच्छी तरह सफल हो सकता है, जहाँ तक उसके द्वारा निर्मित पात्र और उसमे कुछ सादृश्य है, किन्तु जब इस प्रकार का सादृश्य नही रहता तो ऐसी स्थिति मे वह अपने पात्र को बाहर से ही देख पाता है और इसका परिणाम यह होता है कि उस पात्र मे वह स्वाभाविकता नही आ पाती जो पाठको का विश्वास अर्जित कर सके । इस त्रुटि को ही ध्यान मे रखकर हेनरी जेम्स ने सर्वज्ञता की दृष्टि को किसी एक पात्र तक सीमित कर इस शैली को अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया, क्योकि इस स्थिति मे

लेखक की सर्वज्ञता एक पात्र तक ही सीमित हो जाती है और चूँकि पात्र अपने आप मे पूर्ण नही हो सकता, इस कारण लेखक की सर्वज्ञता के अपूर्ण होने पर भी पाठक उसे सहन कर सकता है ।

(२) **आत्मकथात्मक या आत्मनेपद की शैली**—इस शैली मे कथा कोई पात्र इस रूप मे कहता जाता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वह आत्म-अनुभूत को प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत कर रहा है । बाह्य और आतरिक तथ्यो और भावो का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रकार की शैली मे लेखक को अपने दृष्टिकोण को भी प्रत्यक्ष रूप मे रखने का अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है । इस शैली मे कथा कहने की प्रणाली अनेक रूपो मे प्रस्तुत की जाती है । कुछ उपन्यासो मे स्वय नायक ही कथा कहता है । सारा कथानक उसी से सम्बद्ध होता है । कुछ मे कोई सामान्य पात्र कथा कहता है । यद्यपि उसकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण नही होती, किन्तु वह ऐसी स्थिति मे रहता है कि समस्त कथा-वस्तु पर और विशिष्ट पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाल सकता है । कुछ उपन्यास ऐसे होते है, जिसमे भिन्न-भिन्न पात्र, भिन्न-भिन्न परिच्छेद मे आत्मकथात्मक शैली मे कथा कहते है और लेखक इन सबको इस रूप में योजित करता है कि कथा-सूत्र अविच्छिन्न बना रहता है ।

आत्मनेपद मे किसी कहानी को कहने की क्रिया के अपने लाभ है । इस प्रकार की शैली से कथावस्तु को एक प्रकार की स्वाभाविकता मिल जाती है और लेखक को अपनी दृष्टि के अनुरूप चित्रण का अवसर भी प्राप्त हो जाता है । वह अपनी कहानी मे उन्ही वस्तुओं की विवृति प्रस्तुत करता है, जिन्हे उसने सुना है, देखा है या किया है । आत्मनेपद में कहानी कहने का दूसरा लाभ यह है कि इस प्रकार की कहानी का पाठक लेखक के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपना लेता है । इस प्रकार की शैली का एक अलाभ यह है कि लेखक अपने गुणो, विशेषताओ आदि का खुलकर वर्णन नही कर सकता, किन्तु इससे भी बडा अलाभ तो यह है कि आत्मनेपद मे कथा कहने वाला नायक उन पात्रो से दुर्बल प्रतीत हो सकता है, जिनसे वह किसी न किसी रूप मे सम्बद्ध है । लेखक नायक को अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण भीतर से देखता है । इस कारण वह उसे दुर्बलताएँ प्रदान कर देता है, जबकि वह अन्य पात्रो को बाहर से देखता है, उसकी दृष्टि वस्तुनिष्ठ बनी रहती है । उसके ऐसे पात्रो के चित्रण मे उसकी कल्पना और स्वयं प्रकाश-ज्ञान का योग रहता है । फलतः वह उन्हे नाटकीय गंभीरता के साथ देख पाता है और इस कारण उन पात्रो मे उसके अपने निजी चित्र की अपेक्षा अधिक सजीवता आ जाती है ।

आत्मनेपद में कही हुई वह कहानी अच्छी होती है, जिसमें लेखक अपने आप को किसी पात्र-विशेष मे निवेशित कर लेता है, किन्तु वह पात्र कहानी का नायक न हो

तो अच्छा हो। लेखक ऐसी स्थिति मे रहता है कि अन्य पात्रो के साथ उसका निकट क सम्बन्ध रहता है। इस स्थिति मे वह औपन्यासिक क्रिया का कर्त्ता न होकर द्रष्टा-मात्र रहता है। वह पाठको को अपने विश्वास मे ले लेता है और वह जो कुछ जानता है उसे पाठको तक पहुँचा देता है। इस प्रकार की शैली से लेखक कथा-वस्तु की सत्याभासता सफलतापूर्वक प्रतिपादित कर सकता है और पाठको को अधिक मात्रा मे प्रभावित कर सकता है।

पत्रात्मक शैली—उपन्यास-लेखन मे पत्रात्मक शैली भी अपनाई जाती है, किन्तु सामान्यत: आंशिक रूप मे ही। बहुत कम उपन्यास ऐसे है जो आद्यन्त पत्रात्मक शैली मे लिखे गये हैं। पत्रात्मक शैली मे भी आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है। पत्र पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डालने के अच्छे माध्यम सिद्ध हो सकते है। पात्र जिन बातो को किसी कारणवश सामने नही कह सकते, उन्हे पत्रो मे सरलता से व्यक्त कर देते है। मनो-विश्लेषण के लिए भी यह अच्छा साधन है। आत्मनेपद मे लिखे गए पत्रो के लिखने वाले पात्र अनेक हो सकते है। किन्तु सभी अपने-अपने विचार, भाव, रुचि-अरुचि आदि अपने पत्रो मे प्रकट कर देते हैं। इससे अनेक पात्रो की बहुत सारी विशिष्टताएँ सामने आ जाती हैं। इस प्रकार की शैली मे सबसे बडा लाभ यह होता है कि औपन्यासिक घटना सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। पाठक ऐसा अनुभव कर सकते है कि इस प्रकार के पत्र उन व्यक्तियो के द्वारा ही लिखे गए होगे, जिनके नाम से वे दर्शाए गए है और उनके (पाठक के) पास विश्वासघात के कारण पहुँच गए होगे। इस प्रकार का सत्याभास जो प्रतीत होता है, उसी की प्राप्ति उपन्यासकार का उद्देश्य होता है। वह यह चाहता है कि वह जो कुछ कह रहा है, उसे पाठक यथार्थत: घटित हुआ समझ ले, भले ही वह असभाव्य ही क्यो न हो। किन्तु इस प्रकार की शैली विशेषत: त्रुटिपूर्ण होती है। यह कहानी कहने की अत्यन्त जटिल और उलझी हुई शैली है।

शुद्ध पत्रात्मक शैली मे लिखे जाने वाले उपन्यास मे वातावरण-सृष्टि एक विकट समस्या है। कुछ उपन्यास ऐसे हो सकते हैं, जिनमे वातावरण की निर्मिति महत्त्वपूर्ण न हो और कथानक का विकास पत्रो से सूचित होता रहे, किन्तु सभी प्रकार के उपन्यास इस शैली मे नही लिखे जा सकते। पात्रो का पूर्ण विकास, घटनाओ का पूर्वापर सम्बन्ध और पूर्ण वर्णन भी इस प्रकार की शैली मे सभव नही है। अत यह माना जा सकता है कि आंशिक रूप मे पत्रात्मक शैली का प्रयोग औपन्यासिक प्रभाव को संवर्द्धित करता है, किन्तु मात्र इसी शैली का प्रयोग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है और लेखक की सफलता सदिग्ध बनी रहती है। जो उपन्यास इस शैली मे लिखे गए हैं, वे सघटना की दृष्टि से सफल सिद्ध नही हुए है और जिस प्रभाव-सृजन के लिए उनका निर्माण

हुआ, उसकी भी यथोचित रूप मे पूर्ति न हो सकी। अत. शुद्ध पत्रात्मक शैली उपादेय सिद्ध नही हो सकती।

दैनन्दिनी शैली (डायरी शैली)—दैनन्दिनी शैली भी आत्मकथात्मक शैली का ही एक रूप है। प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से इसका भी अपना महत्त्व है। डायरी लिखने वाला व्यक्ति डायरी मे उन सारी बातो को लिख लेना आवश्यक समझता है, जिनका किसी न किसी रूप मे प्रभाव उसके मन पर पडता है। वह अपनी बहुत सारी दुर्बलताएँ, अपने सकल्प-विकल्प और अपनी भावी योजनाएँ, जिन्हे वह साधारण रूप में किसी के सामने व्यक्त नही कर सकता, सहज रूप मे डायरी मे अकित कर देता है। इतना ही नही, वरन् अपने जीवन के बहुत सारे गुह्य, रहस्यमय पक्षो को भी वह अपनी डायरी मे अकित कर सकता है। इस कारण डायरी शैली पात्र के चित्रण और मनोविश्लेषण मे बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। आशिक रूप मे डायरी शैली का प्रयोग करना प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है, किन्तु समग्र उपन्यास की इस शैली मे रचना करना एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। यह बात दूसरी है कि कुशल कलाकार इस शैली मे भी स्फुट और पूर्ण रचना कर सकता है।

नाटकीय शैली—मुख्यतः यह दो रूप मे प्रयुक्त होती है—सलापात्मक रूप में और नाटक-विधान की शैली के रूप मे। सलापात्मक शैली का प्रयोग भी आशिक रूप मे ही होता है। सारा उपन्यास इसी शैली मे नही लिखा जा सकता और नाटकीय विधान भी उपन्यास मे कही-कही योजित होता है। वस्तुतः ऐतिहासिक शैली ही मे इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

मिश्रित शैली—मूलत. दो मुख्य शैलियाँ ही प्रयोग मे आती है। वे है ऐतिहासिक शैली और आत्मकथात्मक शैली। इन दोनो शैलियो को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए और रचना-प्रविधि को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमे अन्य शैलियो को भी मिश्रित कर दिया जाता है। आत्मकथात्मक शैली मे पत्रात्मक और डायरी शैली का मिश्रण कथा-प्रवार को गति दे सकता है, पात्रो के चरित्र पर बहुत अच्छा प्रकाश डाल सकता है और इनके माध्यम से लेखक को बहुत कुछ कहने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक शैली मे अन्यान्य शैलियो को मिश्रित कर लेखक अपने रचना-विधान को आकर्षक और प्रभावशाली बना सकता है।

इन शैलियो के अतिरिक्त और भी शैलियाँ सुविधानुसार प्रयुक्त की जा सकती है। लेखक को केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह शैलीकार ही नही है, प्रत्युत वह उपन्यासकार है। कही ऐसा न हो कि शैली के पीछे उसकी मूल विषय-वस्तु तिरस्कृत हो जाए।

उद्देश्य

उपन्यास-रचना का उद्देश्य क्या हो सकता है ? क्या इसके साथ यह प्रश्न भी उभर कर नही आता कि साहित्य-रचना का उद्देश्य क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर बहुत सारी चर्चा हो चुकी है। अनेक युगो से चर्चा चली आ रही है और आज भी यह क्रम जारी है। कोई कविता क्यो लिखता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रतिप्रश्न से दिया जा सकता है कि पक्षी क्यो गाता है ? गाना पक्षी का स्वभाव है और कविता लिखना कवि का स्वभाव है। किन्तु वह क्यो लिखता है ? उसकी जो अनुभूति है, जो उद्दाम आवेग है, उसे वह चाह कर भी प्रतिरुद्ध नही कर पाता। उसकी रचना-प्रक्रिया इस रूप मे उसे जकड लेती है कि यदि वह स्वतः न भी लिखना चाहे तो भी रचना-प्रक्रिया उसे लिखने के लिए बाध्य कर देगी। प्रत्येक कलाकार के साथ ऐसा ही होता है और उपन्यासकार भी कलाकार होने के कारण इसी प्रक्रिया का भागी होता है।

उपन्यासकार भी अन्य कलाकारो के समान ही सवेदनशील और प्रतिभा-सम्पन्न होता है। वह जिस परिवेश मे विकसित होता है, उससे यथेष्ट मात्रा मे प्रभावित होता है। वह अपने आस-पास जो कुछ देखता है, सुनता है और स्वय अपने जीवन मे जो कुछ भोगता और सहन करता है, वह सब उसकी अनुभूति के तत्त्व बन जाते है। जीवन के प्रति भी उसका जो दृष्टिकोण निर्मित होता है, उसका बहुत बडा दायित्व उसकी जीवनानुभूतियो का होता है, जिन्हे वह अपने परिवेश एव अपने अध्ययन से विकसित कर पाता है। जीवन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है या हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण दूसरे से प्रायः भिन्न होता है। एक ही विचार-धारा रखने वाले व्यक्ति भी अपनी रुचि-अरुचि मे एक दूसरे से भिन्न होते है। सैद्धातिक आधार एक हो सकता है, किन्तु वैयक्तिक आधार भिन्न हो सकता है। जीवन की विभिन्न अवस्था मे व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ कैसी होती है, उन्ही पर उसके भाव-कोश, रुचि-अरुचि आदि के निर्माण होते हैं और उन्ही के आधार पर उसकी जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है, जिसे वह अध्ययन के आधार पर

सैद्धान्तिक रूप भी दे सकता है, विकसित भी कर सकता है और कभी-कभी किसी अत्यन्त प्रभावशाली विचारधारा से प्रभावित हो परिवर्तित कर सकता है, किन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी होती है और परिवेश-जनित अतः सस्कार मिटाने से मिट नही पाते। वे विद्यमान रहते है। उन पर वैचारिक विकास का दबाव रहता है, जिससे व्यक्तिकी चेतनावस्था मे उसके अतः संस्कार उसे अभिभूत नही कर पाते, अवचेतन अवस्था में उनके प्रभाव को अस्वीकार नही किया जा सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लेखक के दृष्टिकोण के निर्माण में उसका परिवेश, वस्तु-जगत्, उसके अध्ययन, शिक्षा तथा उसका अन्तर्जगत् उत्तरदायी होता है। और यही सब वे साधन हैं जहाँ से वह अपनी रचना-सामग्री ग्रहण करता है, जिसके आधार पर उसका रचना-प्रासाद निर्मित होता है। इसी कारण किसी वस्तु विशेष के प्रति सबकी समान प्रतिक्रिया नही होती।

जीवन और जगत् के प्रति प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति की कोई न कोई दृष्टि अवश्य ही होती है, किन्तु वह उसे उस रूप मे नही व्यक्त कर पाता, जिस रूप मे कोई कलाकार व्यक्त करता है। इसका कारण स्पष्ट है। कलाकार मे ऐसी शक्ति या प्रतिभा होती है जो सामान्य व्यक्ति मे नही होती और वह सहजात प्रतिभा उसे अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए विवश कर देती है। अतः कला को शुद्धतः प्रचार मानना कला के साथ अन्याय करना है। यह दूसरी बात है कि ढेर सारा साहित्य प्रचार के लिए लिखा जाता है और प्रचारात्मक होता है, किन्तु कालजयी साहित्य मे किसी प्रकार के प्रचार की गध नही प्राप्त होती।

उपन्यासकार को रचना की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है? सामान्यतः प्राचीन काल से यह विश्वास चला आ रहा है कि प्रेरणा दैवी शक्ति है और कवि या कलाकार रचना-प्रक्रिया की अवधि मे अपने वश मे नही रहता। किन्तु इस प्रेरणा का मनोविज्ञान क्या है, यह जान लेना नितान्त अपेक्षणीय है। प्रत्येक कलाकार के मस्तिष्क मे दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ होती है। एक दिशा मे वह अपने चेतन नियत्रण को दूर कर देने के लिए और अपने मौलिक मस्तिष्क मे डूब जाने के लिए विवश हो जाता है, जिससे नवीन तात्त्विक बिम्ब तथा समृद्ध किन्तु असगत परिकल्पना प्राप्त कर सकता है। वह स्वप्नो या दिवा-स्वप्नो का असम्बद्ध, आकस्मिक जगत् होता है। दूसरी दिशा मे वह नैतिक सौंदर्य, नमनीय रूप, क्रम और सगति का आदर्श स्थापित करने की भावात्मक प्रवृत्ति से विवश हो जाता है। जब दोनो शक्तियाँ पूर्णतया सतुलित और समजित हो जाती है, तभी कला का सामजस्य प्राप्त होता है।*

ऐन्द्रे जीद का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अभिजातवाद और स्वच्छदतावाद के मध्य सघर्ष चलता रहता है और इसी संघर्ष का परिणाम होता है कि कोई कला-कृति निर्मित होती है। अभिजात कला-कृति में आन्तर स्वच्छदता पर क्रम

और व्यवस्था की विजय लक्षित होती है । प्रशमित करने के लिए अन्त सघर्ष जितना प्रबल होगा, कला-कृति उतनी ही सुन्दर होगी । यदि कला की विषय-वस्तु आरभ मे क्रमबद्ध और व्यवस्थित होगी तो कला-कृति बहुत ही कम प्रभावोत्पादक होगी तथा प्रमाता उसमे किसी प्रकार की रुचि न ले सकेगा । मस्तिष्क के इस अत सघर्ष को हम प्रेरणा के नाम से अभिहित कर सकते है । आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओ ने इसे वर्णित करने मे पर्याप्त ध्यान दिया है । कुछ लोगो ने उसे अचेतन मस्तिष्क के क्रिया-रूप मे गृहीत किया है । अचेतन मस्तिष्क की क्रियाएँ स्वायत्त मानी जाती है और उसमे परिष्करण तथा उद्भवन की शक्तियाँ भी मानी जाती है। सामान्य रूप मे मनोविज्ञानवेत्ता आकस्मिक प्रकाश या प्रेरणा भावो की क्रिया मे किसी आकस्मिक प्रवेश के कारण मानते हैं। इस प्रकार आकस्मिक रूप मे प्रविष्ट भाव भावो की सुन्दर सहृति मे अति शीघ्र सन्निविष्ट हो जाते है। रचना-प्रक्रिया मे व्याप्त भावात्मकता का सर्व प्रथम स्थान रूप या विचार का प्रच्छन्न आदर्श रहता है । इस आदर्श का निर्माण कौन करता है और इसे अस्तित्व मे कौन लाता है, यह अविज्ञेय है । दूसरी अवस्था मे उन बिम्बो या स्मृतियो का आकस्मिक रूप मे क्रियान्वयन होता है जो प्रेरणा के क्षण तक अचेतन मस्तिष्क मे प्रच्छन्नावस्था मे पडे रहते है । आकस्मिक बिम्ब कलाकार की प्रणोदित रुचि मे आलोचित होता है, वरण किया जाता है या छोड दिया जाता है और यदि वरण कर लिया जाता है तो सतत परिव्याप्त भावात्मकता से यह विकसित और परिवर्तित कर लिया जाता है । यदि भावात्मक प्रवृत्ति एकाएक और प्रबल रूप मे उद्बुद्ध कर दी जाती है तो सवेग की ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि प्रथम आकस्मिक बिम्ब की चेतनावस्था मे आने वाले सभी भाव और बिम्ब चेतना की तीव्रता से सम्पन्न हो जाते हैं। इसे भावोन्माद की अवस्था कहते हैं । इस अवस्था मे ऐसा प्रतीत होता है मानो भावात्मक प्रवृत्ति को अलकृत करने के लिए बिम्ब पूर्णतया सज्जित होकर अपने रहस्यमय स्थान से प्रकट होने लगते है । किन्तु इस स्फुरण या भावोन्माद की अवस्था मे भी बिम्बो का वरण और त्याग होता रहता है । तथापि सर्जनात्मक क्रिया तभी होती है, जबकि उपयुक्त शब्द या बिम्ब प्राप्त हो जाता है । पूरी की पूरी रचनात्मक प्रक्रिया इन प्राथमिक सर्जनात्मक क्षणो का मात्र आकलन है ।

लेखक कोई एकात सेवी व्यक्ति नही होता, जो किसी जनशून्य द्वीप मे निवास करता हो, अपितु वह एक ऐसे समुदाय मे जन्म लेता है, जिसके प्रभाव स समुदाय के अन्य व्यक्तियो के साथ प्रभावित होता रहता है । वह वस्तुत. समुदाय के अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक ग्रहणशील और अधिक सवेदनशील होता है । इस कारण वह सामुदायिक विचार तथा अपने आस-पास के वातावरण से आत्यतिक मात्रा मे प्रभावित होता है और उसमे उन समस्त प्रभावो को पचाने की अद्भुत शक्ति होती है । अन्य

व्यक्तियो की अपेक्षा वह विशाल और व्यापक पैमाने पर और शीघ्रता से उन्हे पचा पाता है। यह सब उसके मानसिक कलात्मक साधन हैं जो उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करते।[1]

अन्य साहित्यकार के समान ही उपन्यासकार भी जीवन की व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत करता है। मूलतः वह जीवन को जिस रूप मे ग्रहण करता है, उसी रूप मे उसकी जीवन की व्याख्या और आलोचना होती है। वह जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण निर्मित कर देता है और उसी के आधार पर सारा चित्रण करता है। यह कोई आवश्यक नही है कि वह जैसा जीवन जीता है, वैसा ही वह चित्रण भी करे। इसमे कोई सदेह नही कि उसकी निजी अनुभूति सर्वत्र उसकी रचना मे प्रधान रहती है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसकी अनुभूति का बहुत बडा अश अर्जित होता है। वह जीवन और जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। व्यक्तियो के बाह्य जीवन तक ही सीमित न रह कर उनके अन्तर्जगत् मे भी प्रवेश करने का प्रयत्न करता है और उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि का अवलोकन कर उनकी चारित्रिक विशेषता का समझने का प्रयत्न करता है। उसकी निरीक्षण-शक्ति का उसकी रचनाओ पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। लेखक जो कुछ अनुभूत करता है, जो कुछ निरीक्षित करता है, उन सब पर गभीरता-पूर्वक मनन-चितन करता है और यही सब वे तत्त्व होते हैं जो उसके जीवन-दर्शन के निर्माण मे सहायक होते है। उसके अतः सस्कार और जीवन-दर्शन के आधार पर ही उसकी रचना का उद्देश्य जाना जा सकता है। ऐसा प्रश्न उत्थित हो सकता है कि क्या किसी उद्देश्य-विशेष से परिचालित होकर वह अपनी रचना प्रस्तुत करता है? उद्देश्य निर्धारित करके कोई रचना नही लिखी जाती और यदि लिखी जाती है तो उसका केवल प्रचारात्मक महत्त्व होता है। रचना अनिवार्यता के रूप मे आनी चाहिए। तभी रचना का महत्त्व हो सकता है। इसमे कोई सदेह नही कि अनिवार्यता-रूप मे रचना की प्रस्तुति के पीछे लेखक का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, किन्तु वह उद्देश्य आरोपित न होकर रचना-प्रविधि मे ही स्वाभाविक रूप मे विकसित होता है। उसे अलग करके नही देखा जा सकता, वरन् समग्र रचना मे वह आद्यन्त अनुस्यूत रहता है। जीवन और जगत् को देखने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते है जो अनेक वादों के रूप मे देखे जाते है। आदर्शवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, प्रकृतिवाद आदि के पीछे लेखक की दृष्टि का ही महत्त्व है। समस्त वादो के पीछे मुख्यत. दो ही महत्त्वपूर्ण बाते होती है: वह जीवन को किस रूप मे देखता है और किस रूप मे चित्रित करना चाहता है। आदर्श जीवन के सत्य को स्वीकार कर सत्

---

१. विशेष रूप से द्रष्टव्य प्रस्तुत लेखक के ग्रंथ 'साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन' का पाचवाँ अध्याय।

पक्ष की ओर इंगित करता है। वह बुराइयों को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु बुराइयों के साथ अच्छाइयों को भी देखता है और अच्छाइयों को भी प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करता है। जीवन क्या है, इतना ही उसका उद्देश्य नहीं होता, वरन् जीवन कैसा होना चाहिए, यह उसका मुख्य उद्देश्य होता है। यथार्थ जीवन के यथार्थ या वास्तविक पक्ष को महत्त्व देता है। जीवन क्या है और कैसा है, यही इसका क्षेत्र है। यथार्थ केवल असत् ही नहीं है, सत् भी है। सारा संसार सत्-असत् का समाहार है। अतः यथार्थ में दोनों को परिगृहीत करना चाहिए। केवल असत् पक्ष को प्राधान्य देना और सत् पक्ष को नकारना दृष्टि-दोष का परिचायक है। अतियथार्थवाद और प्रकृतिवाद वस्तुतः लेखक की दृष्टि की एकांगिता के प्रतिफल हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' सचमुच समाज के गहरे स्तर में प्रवेश करके ही उसकी अच्छाइयों बुराइयों को समझा जा सकता है। रुग्ण से रुग्ण समाज में कुछ अच्छाइयाँ भी हो सकती हैं। अतः लेखक का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि समाज की बुराइयों की धज्जियाँ उड़ाते हुए उसकी अच्छाइयों की ओर संकेत करते हुए कुछ ऐसे रचनात्मक पक्ष भी प्रस्तुत करे, जिससे रुग्ण समाज के रोग का निदान भी हो सके और भविष्य की निर्माणोन्मुख प्रवृत्तियाँ भी गतिशील हो सकें। निर्ममता से रुग्णता मात्र का उद्‌घाटन अपना कोई अर्थ नहीं रखता, उसके पीछे प्रच्छन्न उद्देश्य-निहिति विशेष महत्त्वपूर्ण होती है।

रचना-विकास की स्वाभाविकता को बनाए रखने के साथ लेखक को अपने उद्देश्य-प्रतिपादन के लिए आगे बढ़ना चाहिए। ऐसा कहना कि रचनाकार का कोई उद्देश्य नहीं होता, भ्रांति का आश्रय ग्रहण करना होगा। रचनाकार जीवन-जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण निर्मित करता है, उसका प्रसार देखना चाहता है। वह उसी से प्रभावित होकर जीवन की आलोचना और व्याख्या करता है। कभी-कभी किसी सिद्धांत-विशेष को भी व्याख्यायित करने के उद्देश्य से और उसके माध्यम से पाठकों में नवीन प्रभाव-सृष्टि के उद्देश्य से परिचालित होकर वह अपनी रचना प्रस्तुत करता है। उनके लिए इतना ही आवश्यक होता है कि अपनी रचना की स्वाभाविकता की पूर्णतया रक्षा करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करे। रचना पर सिद्धांत की प्रधानता न होकर रचना के स्वाभाविक विकास में उसका योग होना चाहिए। तभी वह अपने प्रयत्न में सफल हो सकेगा। साहित्य समाज के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। सामाजिक विकास में उसका बहुत बड़ा योगदान होता है। इस कारण साहित्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य ही होना चाहिए। इतना अवश्य है कि वह उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट न होकर आक्षिप्त होना चाहिए। पाठक को ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि लेखक उसे कुछ सिखा रहा है, वरन् उसे ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि रचना से वह जो कुछ प्राप्त कर रहा है, वह उसके अपने श्रम का फल है और उसने स्वयं रचना का दोहन करके उसे

प्राप्त किया है ।

कुछ लोग साहित्य को नीति और शिक्षा का माध्यम स्वीकार करते हैं, किन्तु साहित्य इन सबसे ऊपर होता है । इसका तात्पर्य यह नही है कि साहित्य का नीति से कोई सम्बन्ध नही है । साहित्य अनीति का प्रचारक नही होता । इसी प्रकार वह नीति का प्रचारक भी नही होता । वस्तुतः वह दोनो से परे होता है, किन्तु परोक्ष रूप में नीति से सम्बद्ध रहता है । साहित्य लोक-मंगल-विधान के लिए होता है और लोक-मगल-विधान का सम्बन्ध नीति से प्रत्यक्ष रूप मे होता है । अतः उत्कृष्ट रचनाएँ नीति से विलग होकर नही चल सकती । किन्तु नीति उनमे आक्षिप्त रहती है, वह प्रखर और प्रधान नही रहती । वस्तुतः वही रचना सशक्त और प्राणवान् सिद्ध होती है जो लोक-मगल-विधान को प्रमुखता देकर आगे बढती है । अराजक सिद्धात और जीवन के प्रति किसी प्रकार के दृष्टिकोण के विकास के अभाव के कारण ही रचनाकार कोई ऐसा विधान नही कर पाता जो लोक-मगल-विधायी सिद्ध हो सके ।

उपन्यास मनोरजन का साधन माना जाता है । ऐसा मानना साहित्य के उद्देश्य को झुठलाना है । मनोरजन सस्ती वस्तु है, जबकि उपन्यास का अपना महत्त्व है । वह मनोरजन का साधन न होकर और अधिक महान् तथा गभीर उद्देश्य का साधन है, जिसे हम एकघन आनन्द की उपलब्धि कह सकते हैं । 'आनन्द' मनोरंजन की तुलना मे महार्घ और महनीय भाव का द्योतक है । लोक-मंगल, नीति, आदर्श सभी उसकी निर्मिति के अग-रूप सिद्ध हो सकते है । लेखक उपन्यास-रचना से अपने पाठको को आनन्द प्रदान करता है । यह कथन अपने आप मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । उसकी रचना जितनी प्रभविष्णु होगी, जितनी लोक-मगल-विधायिनी होगी और आदर्श तथा नीति की भावना से अनुप्राणित होकर जितनी स्वाभाविक होगी, रचना मे उतनी ही सान्द्रता होगी और उतनी ही आनन्द उद्रिक्त करने की शक्ति होगी और वह रचना उतनी ही परिपुष्ट सिद्ध हो सकेगी । यथार्थ के संस्पर्श से रचना की प्रभावशालिता बढती ही है, यदि लेखक स्वाभाविक रूप मे यथार्थ का चित्रण करते हुए सत्-असत् दोनो पक्षो को यथोचित रूप मे प्रस्तुत करता है । किसी भी प्रकार की भावना को प्रस्तुत करते समय औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक होता है, अन्यथा लेखक का सारा उद्देश्य निष्फल सिद्ध होता है । इस तथ्य को ध्यान मे रखकर ही लेखक को जीवन का चित्र प्रस्तुत करना चाहिए और किसी वाद-विशेष को अपनाना चाहिए ।

जीवन-जगत् और मानव-प्रकृति का लेखक को जितना अच्छा ज्ञान होगा, उसकी रचना मे उतना ही गाभीर्य और प्रभावित करने की शक्ति होगी । इसके साथ ही अपनी सामग्री को वह जिस सीमा तक कलात्मकता प्रदान कर सकता है, उसी सीमा तक रचना का मूल्य स्थायी सिद्ध होगा । मानव-मूल्य की स्थापना प्रत्येक रचना का उद्देश्य हो

सकती है और इसे लेखक मानव-चरित्र के विभिन्न आयामो के उद्घाटन-विश्लेषण से सम्पादित कर सकता है । आधुनिक साहित्यिक विधाओ मे उपन्यास ही एक ऐसी विधा है, जिसके माध्यम से लेखक जीवन के महत्तर मूल्यो को विवेचित-विश्लेषित कर अपने पाठको को नया प्रकाश दे सकता है, क्योकि सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तर-बाह्य वृत्तियो और परिस्थितियो का इसमे पूरी स्वतन्त्रता से आकलन-विवेचन हो सकता है और लेखक अपने पाठको की अन्तर्वृत्तियो के समजित विकास के साथ और कुछ ठोस तथा गभीर अनुभूति प्रदान कर सकता है जो आनन्द की उपलब्धि मे सहायक सिद्ध होती है ।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यास-साहित्य का अत्यधिक विस्तार और विकास हुआ है। इस क्षेत्र मे अनेक प्रकार के नवीन प्रयोग भी हुए हैं। इस कारण इसके प्रकारो मे भी असाधारण वृद्धि हुई है। सामान्यतः उपन्यासो का वर्गीकरण दो आधारो पर किया जाता है : पहला आधार वर्णन-प्रणाली का है और दूसरा वर्ण्य विषय का। वर्णन-प्रणाली के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है उसमे घटना-प्रधान या क्रिया-प्रधान, चरित्रप्रधान और नाटकीय उपन्यासो की परिगणना की जाती है। वर्ण्य-वस्तु के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि अनेक भेद किए जाते है। मूलतः वर्णन-प्रणाली का ही विशेष महत्त्व होता है। किसी प्रकार की वर्ण्य वस्तु क्यो न हो, किन्तु वह किसी न किसी वर्णन-प्रणाली में अन्तर्भुक्त हो जाएगी। सामाजिक वर्ण्य वस्तु हो या राजनीतिक, पौराणिक हो या ऐतिहासिक। उसके लिए लेखक जो वर्णन-प्रणाली अपना कर चलेगा, उसी के आधार पर उसका नामकरण होना चाहिए। कथा-वस्तु इतिहास से गृहीत होने के कारण ही कोई उपन्यास ऐतिहासिक कहा जाता है, जबकि वह घटना-प्रधान हो सकता है, चरित्रप्रधान हो सकता है अथवा नाटकीय हो सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास अतीत का चित्र प्रस्तुत करता है। उसमे अन्य उपन्यासो की तुलना मे लेखक की कल्पना का योग अधिक रहता है और उसकी रचना का आदर्श भी किञ्चित् भिन्न होता है। अतः हम ऐतिहासिक उपन्यासो को वर्ण्य वस्तु की विशेषता के कारण एक अलग प्रकार मान सकते है, किन्तु अलग प्रकार मानना केवल सुविधा की दृष्टि से है, अन्यथा उपर्युक्त तीनो प्रकारो मे उसका भी सहज रूप मे अन्तर्भाव हो जाता है। ऐतिहासिक के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी एक नए प्रकार के रूप मे परिगृहीत किया जाता है, जबकि इसका भी अन्तर्भावउक्त तीनो प्रकार मे हो जाता है। एडविन मूर ने घटना प्रधान (क्रिया प्रधान), चरित्रप्रधान और नाटकीय के अतिरिक्त वृत्त प्रधान और सामयिक उपन्यासो की भी चर्चा की है। हम उनके साथ ऐतिहासिक और

मनोवैज्ञानिक दो प्रकारो को सुविधा की दृष्टि से और जोड लेते हैं, जिससे हमारा अध्ययन अधिक व्यवस्थित और सतुलित सिद्ध हो सके।

आधुनिक युग मे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे अत्यधिक प्रगति होने के कारण उपन्यास के वर्ण्य विषय मे पृथुल विकास हुआ है। जीवन-जगत् की विभिन्न समस्याओ ने लेखको को प्रयोग का अधिक से अधिक अवसर प्रदान किया है। सामयिक और अतीत की समस्याओ ने ही लेखको को आकृष्ट नही किया है, वरन् भविष्य के काल्पनिक चित्र-निर्माण की ओर भी उनका ध्यान गया है। विज्ञान के प्रकाश के आधार पर भी उपन्यास लिखे जा रहे है, जिन्हे वैज्ञानिक उपन्यास नाम से अभिहित किया जाने लगा है। आज कल एक प्रवृत्ति यह भी परिलक्षित होती है कि अनेक वादो के नाम से उपन्यासो को अभिहित किया जाता है। जैसे—आदर्शवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, यथार्थवादी, अतियथार्थवादी, प्रकृतिवादी, प्रवाहवादी आदि। किन्तु इस प्रकार के अभिधान आवश्यक नही है। यहाँ पर हम सक्षेप मे घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, नाटकीय, वृत्त प्रधान, सामयिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के स्वरूप-सरचना की चर्चा करेगे।

क्रिया-प्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यास

उपन्यास का सम्बन्ध जीवन से होता है। जीवन का कोई न कोई आदर्श होता ही है। अतः उपन्यास का भी कोई न कोई आदर्श होना चाहिए। उपन्यासकार जो कुछ लिखता है, वह जीवन के सम्बन्ध मे ही होता है। यह एक तथ्य है, पर कोई असाधारण तथ्य नही है। उपन्यासकार का ध्यान समग्र रूप मे जीवन पर ही केन्द्रित रहता है और वह जीवन के क्रम तथा सगति पर विशेष ध्यान देता है। जीवन का कोई निश्चित रूप नही होता। इस कारण कोई भी उपन्यास कितना ही रूपहीन क्यो न हो, किन्तु वह उतना रूपहीन नही हो सकता, जितना जीवन होता है। जीवन के सम्बन्ध मे प्रत्येक लेखक का अपना दृष्टिकोण होता है। कोई लेखक यह कल्पना कर सकता है कि जीवन विसगति और अव्यवस्था का प्रतीक है तो दूसरा जीवन को सगति और व्यवस्था का प्रतीक मानकर अपनी रचना प्रस्तुत कर सकता है। सभव है पहला लेखक सरचना की दृष्टि से अच्छा उपन्यास लिख ले और दूसरे का उपन्यास संरचना की दृष्टि से कमजोर हो। इसका कारण यह है कि उपन्यास के नियम और कल्पना-प्रधान रचना के नियम उसकी शक्ति के बाहर होते हैं। वह उन्हे नही जान सकता। उसके लिए यही बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उसे उनका निरीक्षण करना चाहिए। नियमो के बारे मे सिद्धात उसकी सहायता कर सकते है, उसके मार्ग मे बाधक हो सकते हैं और उसका अज्ञान भी सहायक या बाधक हो सकता है। नियमो का उल्लंघन अथवा परिवर्तन किसी विशेष उपलब्धि की ओर नही ले जाता। सामान्यतः

यह देखा जाता है कि जो उपन्यास परम्परा का अनुगमन करते हैं, वे परम्परामुक्त उपन्यास की तुलना मे अधिक समादृत होते है। जो उपन्यास परम्परा से मुक्त होते है, वे उस रूप मे समादृत नही हो पाते और वे परम्परा मे गौण तत्व के रूप मे समाविष्ट कर लिए जाते हैं। मूलतः परम्परा-मुक्त उपन्यासो मे या तो नियमो का उल्लंघन देखा जाता है या तो उनका परिवर्तन। यही कारण है कि वे समुचित रूप मे समादृत नही हो पाते।

उपन्यास के मुख्यत. वे रूप अच्छे माने जा सकते है; जिनका ढाँचा (Pattern) निश्चित है, जिनका ढाँचा अस्पष्ट है; जो विकास के कडे नियम के आधार पर बढते हैं और जिनमे शायद ही किसी प्रकार का विकास देखा जा सके।

उपन्यास में ढाँचा (Pattern), लय, सतह या तल, दृष्टिकोण आदि होते है, किंतु कालीन के समान ढाँचा नही होता अथवा सगीत के समान लय नही होती। तात्पर्य यह है कि उसका कोई बँधा-बँधाया स्वरूप नही होता। सब कुछ लेखक की मानसिक वृत्ति और उसकी विषय-निरूपण- पद्धति पर निर्भर करता है।

उपन्यास के सम्बन्ध मे यदि कोई कुछ बता सकता है तो वह उपन्यासकार ही है। गद्यात्मक गल्प (Fiction) का सर्वाधिक सरल रूप कहानी है जो आश्चर्यजनक प्रणाली से घटनाओ के क्रम का अभिलेख प्रस्तुत करती है। उपन्यास का भी एक रूप ऐसा ही प्रभावशाली होता है, जिसे रोमास कहते है। रोमांस पाठक की कुतूहल-वृत्ति को जगाता है, किंतु यदि घटनाएँ किसी एक क्रम मे प्रवाहित हो तो कुतूहल-वृत्ति अधिक गभीर हो जाती है। रोमांस क्रियाप्रधान उपन्यास होता है। यह कभी-कभी दुःखद प्रतीत होता है, किंतु उसका मुख्य लक्ष्य प्रसादन होता है। अतः उसका अंत प्रायः सुखात्मक होता है। फलतः नायक गैर जिम्मेदारी के साथ जो अनेक खतरो मे से गुजरता है, उसका हम पूरा-पूरा आनन्द ले सकते है, क्योकि हम यह जानते है कि अत मे वह उन खतरो से बच निकलेगा। कुछ ऐसे उपन्यास अवश्य है, जिनमे नायक खतरो से निकल नही पाता, किंतु ऐसे उपन्यास मूलतः क्रिया से सम्बद्ध नही होते। वे कुतूहल के स्थान पर समिश्र भाव जागृत करते हैं और उनसे पाठक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह सामान्य कहानी का आनन्द नही होता। क्रियात्मक उपन्यास में मर्मस्पर्शी घटनाओ मे नायक के अनुत्तरदायित्व से जो आनन्द होता है, वही पाठको को आकृष्ट करता है। तीव्र क्रियाओ के सरल वर्णन मात्र से पाठक क्यो आनन्दित हो उठते हैं, यह मनोवैज्ञानिको का विषय है। किन्तु यह बात असंदिग्ध है कि पाठक आनन्दित हो उठते है। क्रियाप्रधान उपन्यास मे किसी तुच्छ घटना के अप्रत्याशित परिणाम हो सकते है, वे परिणाम प्रसरित होकर

असख्य हो सकते है और अत मे आश्चर्यजनक ढग से सुलझ सकते है। इसमे महत्ता क्रिया की होती है और पात्र के आचरण उसके प्रति आकस्मिक होते हैं तथा ऐसे होते है, जिनसे कथानक को सहायता मिलती है। वह उपन्यास जो विलक्षण घटनाओ का वर्णन इस रूप मे प्रस्तुत करता है, जिससे पाठको का मनोरजन हो, सभी प्रकार के उपन्यासो से पाठको की सख्या की दृष्टि से बडा होता है। क्रियाप्रधान उपन्यास इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार के उपन्यास मे यह अपरिहार्य होता है कि उसमे जीवन से पलायन रहता है, किन्तु इसके साथ ही यह भी अपरिहार्य होता है कि वह पलायन अधिक सुरक्षित रहे। यह पलायन केवल आनन्दात्मक (रोमाचक) हीं न हो, वरन् अस्थायी भी हो। क्रियाप्रधान उपन्यास में गौण पात्रो की मृत्यु, दुष्ट पात्रो की हत्या आदि की विवृति रहती है। कुछ अच्छे पात्रो का बलिदान भी इसमे निहित रहता है। अन्त मे नायक अपने क्षुब्ध वातावरण से समृद्धि और शाति की स्थिति मे वापस आ जाता है। इसका कथानक हमारे ज्ञान के अनुसार न होकर हमारी इच्छा के अनुसार होता है। यह इच्छाओ की विलक्षण कल्पना है, यह जीवन का चित्र नहीं है। यह प्रायः साहित्यिक महत्त्व का नही होता, कुछ सीमा तक यह चरित्रप्रधान भी होता है।

गल्प मे चरित्रप्रधान उपन्यास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधाओं मे से एक है। ऐसे उपन्यास मे पात्र कथानक के अग-रूप मे नही परिगणित किए जाते, अपितु उनका स्वतत्र महत्त्व होता है और क्रिया उनकी अनुगत या सहयोगिनी होती है; जबकि क्रियाप्रधान उपन्यास में विशिष्ट घटना के विशिष्ट परिणाम होते है; किन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यास मे स्थिति सामान्य या प्रतिरूपात्मक होती है और वह इस रूप मे प्रस्तुत की जाती है, जिससे पात्रो के सम्बन्ध मे और अधिक जाना जा सके अथवा नए पात्रों को लाने के लिए उसकी योजना की जाती है। जब तक ऐसा होता है, तब तक कोई भी सभावित घटना घटित हो सकती है। ऐसे उपन्यासों के पात्र प्रायः स्थिर होते है। वे ऐसे परिदृश्य के समान होते हैं जो हमे उस स्थिति मे विस्मित कर देते हैं, जबकि हम उन्हे किसी दूसरे परिप्रेक्ष्य से देखते हे। इसके पात्र स्थिर या चतुरस्र (Flat) होते है, जबकि आधुनिक आलोचक गतिशील या वृत्तात्मक (Round) पात्र पसंद करते हैं, किन्तु चरित्रप्रधान उपन्यास के लिए चतुरस्र पात्र ही ऐसे हो सकते है जो उसके उद्देश्य की पूर्ति कर सके। ऐसे पात्रों के माध्यम से ही वह एक प्रकार का जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार के उपन्यास के पात्र गत्यात्मक अवस्था मे रहते हैं और इसका कथानक शिथिल और सरल होता है तथा पात्रों के प्रकाशन के लिए उसकी व्यवस्था की जाती है। यहाँ पर दो प्रकार के उपन्यासो की चर्चा की गई : पहला क्रियाप्रधान उपन्यास, जिसमें कथानक को सुन्दर ढंग से

विकसित किया जाना चाहिए और दूसरा चरित्रप्रधान, जिसमे कथानक को शिथिल रूप मे रखना चाहिए। किन्तु उक्त दोनो प्रकार सिद्धान्त रूप मे ही पृथक् किए जा सकते हैं, व्यवहार मे नही। चरित्रप्रधान उपन्यास मे सामाजिक जीवन का सकेत भी रहता है।

नाटकीय उपन्यास (Dramatic novel)—नाटकीय उपन्यास मे पात्र और कथानक का अतर समाप्त हो जाता है। पात्र कथानक के तंत्र के अग मात्र नही रहते और कथानक पात्रो के चतुर्दिक स्थूल ढाँचे के समान नही रहता; अपितु दोनो एक दूसरे मे सग्रथित रहते है। पात्रो के गुणो से क्रिया का निर्धारण होता है और क्रिया से पात्रो मे परिवर्तन आता रहता है। इस प्रकार उपन्यास की प्रत्येक वस्तु समाप्ति की ओर ले जाई जाती है। नाटकीय उपन्यास उसी प्रकार काव्यात्मक त्रासदी से साम्य रखता है, जिस प्रकार चरित्रप्रधान उपन्यास का कामदी से साम्य होता है। किन्तु अपने समस्त रूपो मे नाटकीय उपन्यास का त्रासद होना आवश्यक नही है। क्रियाओ की गभीरता नाटकीय उपन्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नाटकीय उपन्यास मे हास्योद्रेचक तत्त्वो का भी समावेश हो सकता है। चरित्रप्रधान उपन्यास यथार्थ और आभास के बीच जो अतर होता है, उसे स्पष्ट करता है। वह यह भी स्पष्ट करता है कि लोग समाज मे अपने आप को किस रूप मे प्रदर्शित करते है और वास्तव मे होते क्या है। नाटकीय उपन्यास यह प्रदर्शित करता है कि यथार्थ और आभास दोनो एक हैं और चरित्र ही क्रिया है तथा क्रिया ही चरित्र है। नाटकीय उपन्यास मे विविध तत्त्वो का सश्लेषण रहता है, पर मात्र विरोध ही विरोध नही रहता। पात्रो मे यदि कुछ अपरिवर्त्य रहता है तो वह तर्कसंगत रहता है और वह अपरिवर्त्य तत्त्व दूसरों के प्रति उसके व्यवहार और स्थिति-विशेष मे उसके क्रिया-कलाप का निश्चायक होता है। इसमे एक प्रकार का विकास होता है, जो वहाँ तक स्वतः स्फूर्त और तर्कसगत होता है, जहाँ तक पात्र परिवर्तित होते है और पात्रो के परिवर्तन से नई संभावनाएँ उत्पन्न होती हैं। नाटकीय उपन्यास के कथानक का वास्तविक व्यवच्छेदक वैशिष्ट्य यही स्वतः स्फूर्त्त, विकासात्मक तर्क है। आरम्भ मे कथित और अपरिवर्त्य तथ्यो से प्रत्येक वस्तु का विकास होता है, परन्तु इसके साथ ही समस्या के रूप परिवर्तित होते हैं, जिनसे अदृष्ट परिणामो का सृजन होता है। तर्कसगत और स्वतःस्फूर्त्त दोनो तत्त्व आवश्यकता और स्वतत्रता नाटकीय कथानक में समान महत्त्व के है। क्रिया की रूपरेखा निश्चित की जा सकती है, किन्तु जीवन को उसे निरन्तर सीचना चाहिए, मोडना चाहिए और सीमा का कटाव व्युत्पादित करना चाहिए। यदि स्थितियाँ तार्किक आधार पर निर्मित की जाती हैं और उनमें मुक्त जीवन का प्रवाह नही है, तो भले ही पात्र सच्चे हों, किन्तु परिणाम यान्त्रिक ही होगा। साथ ही यदि स्वतत्रता

पर अधिक बल दिया जाता है तो भी प्रभाव उसी रूप मे हलका हो जाता हे। नाटकीय उपन्यास का अत समस्या के समाधान से होता है। सतुलन अथवा मृत्यु ये दो हो ऐसे लक्ष्य है, जिनकी ओर नाटकीय उपन्यास का विकास होता है। चरित्रप्रधान उपन्यास का कथानक विस्तृत होता है और नाटकीय का गभीर होता है। चरित्रप्रधान उपन्यास की क्रिया का आरम्भ किसी एक पात्र से या मूल केन्द्र-विन्दु से होता है और उसका विस्तार उस आदर्श परिधि की ओर होता है जो समाज का प्रतिमान हे। नाटकीय उपन्यास की क्रिया कभी भी किसी एक पात्र से आरम्भ नही होती, दो या उससे अधिक पात्र रहते है, उसकी परिधि मे अनेक विन्दु होते हैं जो जटिल होते है, मूल केन्द्र-विन्दु नही होता और वह उपन्यास केन्द्राभिमुख रहता है तथा किसी एक क्रिया की ओर उसकी उन्मुखता रहती है, जिसमे अन्य सहायक क्रियाएँ सम्मिलित और समाहित हो जाती हैं। नाटकीय उपन्यास अनुभूति की वृत्तियो का चित्र होता है, जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास अस्तित्व की वृत्तियो का चित्र होता है।

नाटकीय उपन्यास का कल्पनात्मक जगत्-काल मे और चरित्रप्रधान का कल्पनात्मक जगत् देश मे निहित रहता है। प्रथम मे देश की स्थिति गौण होती है और दूसरे मे काल की। चरित्रप्रधान उपन्यास का मूल्य सामाजिक है और नाटकीय का वैयक्तिक या सार्वभौमिक। प्रथम मे हम पात्रो को समाज मे पाते हैं और दूसरे में पात्रो को आरम्भ से अन्त तक गतिशील पाते है। ये दोनो प्रकार के उपन्यास न तो एक-दूसरे के विरोधी है और न तो एक-दूसरे के पूरक। ये वस्तुतः जीवन देखने की दो विशिष्ट वृत्तियाँ है। नाटकीय उपन्यास मे वैयक्तिक आधार पर और चरित्रप्रधान उपन्यास मे सामाजिक आधार पर जीवन को देखा जाता है। यह कहना कि कोई कथानक स्थानिक है, यह नही सूचित करता कि उसमे कालिक गति नही है और इसी प्रकार किसी कथानक को कालिक कहना यह स्वीकार करना नही है कि उसमे स्थानिक परिवेश नही है। इससे केवल यह सूचित होता है कि किसमे किसका प्राधान्य होता है। स्थानिक वैशेष्य के कथानक मे प्रभावपूर्ण प्रसग को विस्तृत करना मुख्य विषय होता है। इससे यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि ऐसा करने से स्थान उसका आयाम हो जाता है। काल-वैशेष्य के कथानक मे मुख्य विषय विकास की खोज है और विकास काल की ओर सकेत करता है। दोनो प्रकार के कथानक की रचना उनके लक्ष्य से निश्चित की जाती है। एक मे शिथिलता से ग्रथित ढाँचा होता है और दूसरे मे कार्य-कारण की शृखला होती है।

वृत्तप्रधान उपन्यास (chronicle)—यह सर्वसाधारण बात है कि किसी भी कलाकृति मे दो तत्त्व होते है : सार्वभौमिक और विशिष्ट। कलाकार विशिष्ट केवल विशिष्ट का वर्णन करता है। सार्वभौमिक प्रत्यक्ष रूप मे और शीघ्र संप्रेषित नही होता, किन्तु

विशिष्ट के साथ ही उसे कलाकृति मे स्थान मिल जाता है। गद्यात्मक गल्प में सार्वभौमिकता रहती है। काल और देश से अतीत रचना मे ही सार्वभौमिकता के तत्व रहते है। महान् कलाकृतियो मे समस्त तत्व विशिष्ट और सार्वभौमिक प्रकार के होते हैं। रूसी उपन्यास 'युद्ध और शाति' को वृत्तप्रधान उपन्यास कह सकते है। इसकी क्रिया अधिकतर आकस्मिक है, किन्तु सभी घटनाएँ पूर्णतः स्थिर ढाँचे मे घटित होती है। 'युद्ध और शाति' का ढाँचा अशिथिल है और इसका विकास स्वच्छन्द है। ये दोनो वृत्तप्रधान उपन्यास के लिए आवश्यक हैं। पहले के बिना यह आकारविहीन हो जाएगा और दूसरे के बिना निर्जीव। पहला इसे सार्वभौमिकता प्रदान करता है और दूसरा विशिष्ट यथार्थ प्रदान करता है। काल वृत्तप्रधान उपन्यास की मुख्य भूमि है। इस कारण कथानक के उक्त दोनो तत्व काल के अलग-अलग पक्ष है। उन्हे हम क्रमशः निरपेक्ष क्रिया-रूप मे काल और आकस्मिक प्रकाशन-रूप मे काल कह सकते है। 'युद्ध और शाति' की गति क्रिया की गभीरता से निश्चित नही हो सकती, अपितु इसमे तो नीरस नियमितता है जो पात्रो से बाहर और पात्रो से अप्रभावित है। 'युद्ध और शाति' मे परिवर्तन मुख्य रूप से सामान्य है और उसकी अपरिहार्यता सामान्यता मे ही निहित है। यह क्रिया के साथ आगिक नही है। कभी क्षिप्र है, कभी स्थिर है और कभी आवेग और भाव की गति के अनुकूल प्रतीत होता है। यह नियमित है, गणितीय है और एक अभिप्राय से अमानवीय और रूपहीन प्रतीत होता है। यह अपने निजी विकास के अतिरिक्त अन्य तत्वो के प्रति उदासीन है। इसमे सब कुछ सभव है और सब कुछ होता है।

इस प्रकार के उपन्यास मे पात्र का प्रकाशन समय के माध्यम से होता है। इसमे मानवीय क्रिया-कलाप से काल की गणना नही होती, भले ही मानवीय क्रिया-कलाप अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्यो न हो। यह अपरिवर्तित रहता है, यह अपनी गति मे नियमित रहता है। इसमे हम मानवीय जीवन, विकास, ह्रास सब कुछ देखते हैं। एक ऐसी क्रिया देखते है, जिसकी निरन्तर आवृत्ति होती है। किन्तु इसमे जन्म, विकास और ह्रास की प्रक्रिया के भीतर ही जीवन के विविध प्रकाशन होते हैं। प्रकार के उपन्यास मे भी नाटकीय उपन्यास के समान ही वैविध्य एकरूपता के विरुद्ध रखा जाता है, स्वतत्रता आवश्यकता के विरुद्ध रखी जाती है। यदि किसी एक पर ज्यादा जोर दिया जाए तो कहानी असत्य हो जाएगी और यदि किसी को छोड दिया जाए तो कहानी को कल्पनाप्रधान कृति नही कहा जा सकता। नाटकीय उपन्यास मे काल आतरिक होता है, इसकी गति पात्रो की गति होती है। परिवर्तन, नियति, चरित्र सभी एक क्रिया मे सक्षिप्त रूप मे रहते हैं और क्रिया के प्रवाह मे ऐसा ठहराव आता है, जिसमे समय अवरुद्ध प्रतीत होता है और रंगस्थल शून्य छोड दिया जाता है। वृत्तप्रधान उपन्यास मे काल बाह्य होता है।

यह पात्रो के मस्तिष्क मे वैयक्तिक और मानवीय रूप मे पकडा नही जाता। यह बाहर से एक निश्चित कोण से देखा जाता है। यह दर्शक के पीछे प्रवाहित होता है और जिन पात्रो को जागरित करता है, उनके मध्य और उनके ऊपर प्रवाहित होता है। इसमे सापेक्षता अपरिहार्य रहती है। इसमे जीवन का वृहत्तर पक्ष होता है। इस कारण ऐसा नही कहा जा सकता कि यह नाटकीय उपन्यास से अधिक वास्तविक होता है। उक्त तीनो प्रकार के उपन्यास जीवन-चित्रण की तीन वृत्तियाँ मात्र है। वृत्तप्रधान मे जागतिक विकास समस्त विशिष्ट घटनाओ को कुछ भिन्न मूल्य प्रदान करता है। इस कारण दु.खद, करुणाजनक—अपरिहार्य, आकस्मिक, अतिम और सापेक्ष हो जाता है और इसका सम्पादन स्वाभाविक और अपरिहार्य हो जाता है।

सामयिक उपन्यास—(Period novel)—सामयिक उपन्यास सार्वकालिक मानव-सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न नही करता। यह सक्राति की अवस्था मे समाज अथवा व्यक्तियो को दिखा देने मात्र से सतुष्ट हो जाता है। इसके पात्र वही तक वास्तविक रहते हैं, जहाँ तक ये समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह प्रत्येक वस्तु को विशिष्ट, सापेक्षिक और ऐतिहासिक बना देता है। यह जीवन को सार्वभौमिक कल्पना की दृष्टि से नही देखता, अपितु सिद्धातोन्मुख बुद्धि से प्रेरित ससूचक और व्यस्त नेत्रो से देखता है।

ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास भी अन्य उपन्यासो के समान ही घटनाप्रधान, चरित्र-प्रधान या नाटकीय हो सकता है। अतर केवल इतना होता है कि अन्य उपन्यासो मे समसामयिक जीवन का चित्र होता है और सामयिक अथवा सार्वभौमिक समस्याएँ होती है, जबकि ऐतिहासिक उपन्यास अतीत जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है और उसमे कोई सार्वकालिक-सार्वभौमिक समस्या भी हो सकती है तथा ऐसी भी समस्या हो सकती है जो वर्तमान जीवन की समस्या से सर्वथा भिन्न हो। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास का अन्य उपन्यासो से भेदक तत्त्व है देश-काल और वातावरण का निर्माण। अन्य उपन्यासो मे भी इस तत्त्व का विशेष महत्त्व होता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास मे यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है; क्योकि इसी आधार पर लेखक ऐतिहासिकता की प्रभाव-सृष्टि कर सकता है। तत्कालीन सास्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का उसे पूरा-पूरा परिज्ञान होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र मे किंचित् दौर्बल्य उसकी सारी प्रभाव-सृष्टि को धराशायी कर देगा।

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास लेखक नही होता। तथ्यो का आकलन उसका कर्त्तव्य नही है। हमारे कथन का यह आशय नही है कि वह इतिहासकार नही हो सकता। वह इतिहासकार हो सकता है और उस रूप मे तथ्यो का आकलन

भी कर सकता है। किन्तु उपन्यासकार के रूप मे उसका दायित्व कुछ दूसरा हो जाता है। इतिहास और पुरातत्त्व के नीरस तथ्यो को उसे रसात्मक रूप मे प्रस्तुत करना होता है। कल्पना के योग से उसे तत्कालीन जीवन का मार्मिक और जीवन्त चित्र प्रस्तुत करना होता है। उसका यह कर्तव्य गुरु-गम्भीर होता है। एक-एक पद उसे पूरी सतर्कता से रखना पडता है, कही किंचित् असावधानी हुई तो दूसरा सारा रचना-प्रासाद लडखडा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक मे सामान्य उपन्यास लेखक की अपेक्षा अधिक कुशलता अपेक्षित होती है। एक ओर सम्बन्धित इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो से उसका पूरा परिचय होना चाहिए और दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्य को कलात्मक रूप प्रदान करने की भरपूर क्षमता भी होनी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास मे इतिहास को इस प्रकार अतिरजित रूप मे प्रस्तुत किया जाता है कि उसका प्रत्येक तथ्य विशेष प्रकार का प्रभाव निर्मित करता है। वस्तुत: ऐतिहासिक उपन्यास मे ऐतिहासिक घटनाओ को इस रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिससे सजीव जीवन-चित्र निर्मित हो सके। इस दृष्टि से इतिहास केन्द्रापसारी है और उपन्यास केन्द्राभि-मुख—अर्थात् केन्द्रीय महत्त्व उपन्यास का है और इतिहास उसका सहगामी तत्त्व है, जिसका अपना महत्त्व है, किन्तु उपन्यास की तुलना मे गौण। यदि इतिहास प्रधान हो जाएगा और उपन्यास गौण तो सारी रचना का प्रभाव विच्छिन्न हो जाएगा। इतिहास का सूत्र उपन्यास के इर्दगिर्द इस रूप मे रहता है, जिससे उपन्यास के रूप की रचना होती है। इतिहास का अपना स्वाभाविक विकास होता है, जबकि उपन्यास का कथानक लेखक-निर्मित होने के कारण कृत्रिम होता है। इतिहास भी वर्णन-प्रधान होता है, परन्तु इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास मे मौलिक अन्तर यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास का कथानक ऐतिहासिक घटनाओ पर आधृत होने के साथ ही लेखक की रचनात्मक कल्पना से रूप-रग प्राप्त करता है। क्या ऐतिहासिक उपन्यासकार को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह ऐतिहासिक तथ्य को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकता है? उपन्यासकार आवश्यकतानुसार तथ्यो को परिवर्तित कर सकता है, किन्तु उन्हे विकृत करने का उसे कोई अधिकार नही है। परिवर्तन इस कारण स्वीकार किया जा सकता है कि इतिहास के तथ्य यदि पूर्णत: स्थापित नही है, तो उनमे परिवर्तन की गुजाइश रहती है। बहुत सारा इतिहास अभिलेखो के आधार पर लिखा गया है। अभिलेखो की व्याख्या और तथ्यो के आकलन मे इतिहास लेखक का निजी दृष्टिकोण प्रधान रहता है। इस कारण इतिहास मे वैयक्तिकता की छाप रहती है और इसी कारण उसे वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। अस्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार औचित्य को ध्यान मे रखकर ऐतिहासिक तथ्यो मे किंचित् परिवर्तन कर सकता है, परन्तु उसे विकृत करने का उसे कोई अधि-

कार नही है ।

इतिहास-प्रसिद्ध पात्रो के चित्रण मे लेखक को अधिक सावधान रहना पडता है । कुछ पात्र ऐसे हो सकते है जिनका जन-मानस पर निश्चित चित्र निर्मित हो चुका है । जैसे, राम, कृष्ण, गौतम आदि । लेखक ऐसे पात्रो को यदि इतिहास-सम्मत रूप से विरुद्ध प्रस्तुत करता है तो जन-मानस मे वह क्षोभ ही उत्पन्न कर सकता है । ऐसे पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य को ध्यान मे रखते हुए उनकी अन्तर्वृत्तियो आदि को वह इस रूप मे चित्रित कर सकता है कि पाठक को उनके सम्बन्ध मे गभीर और व्यापक भावना का उद्रेक हो सके । यदि उपन्यासकार इस बात पर ध्यान नही देगा तो उसकी रचना समादृत नही हो सकेगी । इस बात की गभीरता को ध्यान मे रखकर बहुत से उपन्यासकार इतिहास-प्रसिद्ध पात्रो को अपने उपन्यासो मे चित्रित करना आवश्यक नही समझते, क्योकि सास्कृतिक और सामाजिक धरातल को गभीरता से समझने के बाद वे कल्पित पात्रो के माध्यम से तत्कालीन जीवन का चित्र अधिक सुगमता से निर्मित कर सकते है । ऐसी स्थिति मे उन्हे देश-काल और वातावरण का ही बन्धन स्वीकार करना पडता है । पात्र के चारित्रिक वैशिष्ट्य का वे स्वेच्छा से निर्माण कर सकते है । किन्तु जो लेखक स्थापित इतिहास-प्रसिद्ध पात्रो और ऐतिहासिक तथ्यो को अविकृत रूप मे लेकर आगे बढते है, उन्हे क्षण-क्षण पर अधिक सावधान रहना पडता है । तथापि यदि वे कुशलतापूर्वक अपनी रचना का स्वरूप निर्माण कर सके, पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उद्घाटित कर सके और जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत कर सके तो उन्हे अच्छी सफलता प्राप्त होती है ।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की कई विधियाँ हो सकती है, जिनमे मुख्यत. दो विधियाँ अधिक प्रचलित है : पहला शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास और दूसरा ऐतिहासिक वातावरण प्रधान काल्पनिक उपन्यास । शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की विधि मे लेखक ऐतिहासिक पात्रो को उनके इतिहास-सम्मत रूप में प्रस्तुत करता हुआ तत्कालीन जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है । इस लेखन-विधि मे लेखक को बहुत अधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है । ऐतिहासिक वातावरण-प्रधान काल्पनिक उपन्यास मे वातावरण-निर्माण की समस्या ही प्रमुख रहती है । इसके अतिरिक्त अन्य तत्वो के निर्माण मे लेखक स्वतत्र रहता है । शिवनारायण श्रीवास्तव ने ऐसे उपन्यास को ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास नाम से अभिहित किया है । इस प्रकार के उपन्यास मे प्रेमाख्यान की प्रधानता रहती है, किन्तु यह अनिवार्य नही है कि ऐसे उपन्यास मे प्रेमाख्यान हो ही । अतः यह नाम अतिव्याप्त हो जाता है ।

रागेय राघव और वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिकता को प्रधान तत्त्व के रूप मे स्वीकार कर तटस्थ भाव से उसका उपयोग किया है। रागेय राघव ने ऐतिहासिक तत्त्व का सुरुचि से उपयोग किया है। वर्मा जी ने भी अपने अनेक उपन्यासो मे ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए अपनी विशद कल्पना और सुरुचि का परिचय दिया है, किन्तु ऐतिहासिकता के मोह मे पडकर उन्होने कतिपय उपन्यासो मे ऐसी तटस्थ दृष्टि अपना ली है कि वे उपन्यास न होकर अपनी जीवनी या इतिहास-ग्रथ हो गए है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने ऐतिहासिक तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कल्पना-योग को विस्मृत नही किया है। उन्होने 'वैशाली की नगरवधू' नामक उपन्यास मे 'इतिहासरस' के सिद्धात का प्रतिपादन किया है और कहा है, भाव और रस मे जो अन्तर है, वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रस मे है। जिस तरह भाव को रस की स्थिति तक पहुँचाने के लिए तथ्यो मे परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरह की स्वतत्रता का अवसर ऐतिहासिक उपन्यासो में भी मान्य है। ऐतिहासिक उपन्यास तथ्यो का आकलन-मात्र नही होता। उसमे प्राण प्रतिष्ठा करने के लिए कल्पना के सहारे ऐसे परिवर्तन करने पडते है जो रचना को रागात्मक बना सके, अन्यथा ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के पृष्ठो के समान ही नीरस और शुष्क सिद्ध होगा। अतः यह बात सर्वथा सगत है कि उपन्यासकार को इतिहास का उपयोग इस रूप मे करना चाहिए कि ऐतिहासिक तथ्य विकृत भी न हो पाएँ और अवसर के अनुकूल उनमे किंचित् परिवर्तन इस रूप मे कर लिया जाए कि ऐतिहासिकता अव्याकृत बनी रहे। हाँ, प्रत्येक परिस्थिति मे यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि लेखक को ऐतिहासिक परिवेश, सस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, व्यवहार, रीति, वेश-भूषा, आर्थिक-धार्मिक स्थिति आदि का पूरा-पूरा और सूक्ष्म परिचय होना चाहिए, अन्यथा उसका सारा प्रयास निरर्थक सिद्ध होगा।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे क्रिया और घटना की प्रधानता न होकर मानसिक व्यापार की प्रधानता होती है। व्यक्ति की अनुभूति और अन्तर्द्वन्द्व को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। यद्यपि शुद्धतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास का आरम्भ बीसवीं शताब्दी ही मे होता है तो भी इससे पूर्व ऐसे उपन्यास प्राप्त हो जाएँगे, जिनमे उपन्यासकारो ने अपने पात्रो के मानसिक-सघर्ष और अनुभूतियो को अभिव्यक्ति प्रदान की है। रूसी उपन्यासकारो मे दास्तावेस्की ऐसे प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होने अपने पात्रो की व्यक्तिगत अनुभूति और अतः सघर्ष का अत्यन्त भव्य रूप प्रस्तुत किया है। फ्रांसीसी उपन्यासकारो मे प्रूस्त का नाम अग्रगण्य है, जिन्होने अपने पात्रो के मनोविज्ञान

को अपनी रचनाओ मे सफल अभिव्यक्ति दी है। अग्रेजी साहित्य मे इस प्रकार के उपन्यास की परम्परा हेनरी जेम्स से आरम्भ होती है। तदनन्तर मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की बाढ-सी आ गई और अनेक भाषाओ के साहित्य मे इस प्रकार के उपन्यास लिखे गए। हिन्दी मे इलाचन्द जोशी, अज्ञेय आदि इसी परम्परा के उपन्यासकार है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे व्यक्ति के चेतन मस्तिष्क के साथ अचेतन मस्तिष्क को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। मस्तिष्क की चेतना के स्तर पर जो कुछ है, उससे बहुत अधिक अचेतन मस्तिष्क मे है। व्यक्ति के जीवन मे अचेतन मस्तिष्क का बहुत अधिक महत्त्व होता है। उसके बहुत सारे क्रिया-व्यापार, विचार-व्यवहार के निश्चायक तत्त्व है उसके अचेतन व्यापार, जिसे मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली से व्यक्त किया जाता है। फ्रायड ने पूरे मनोयोग से अचेतन मस्तिष्क की बहुत सारी विशेषताओ पर प्रकाश डाला है, जिनका मनोविश्लेषण मे बहुत बड़ा महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक मनोविश्लेषणात्मक प्रविधि का अधिक से अधिक उपयोग करते है।

आधुनिक उपन्यास पर बर्गसॉ के इस दार्शनिक विचार का भी प्रभाव पडा है कि सतत प्रवाह के रूप मे काल का प्रत्यय है। इससे पूर्वकाल को अनेक प्रवाहो के क्रम के रूप मे स्वीकार किया जाता था। विलियम जेम्स ने चेतना के सातत्य के रूप मे अपना विचार किया था। इन दोनो विचार-धाराओ ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास को आत्यतिक रूप मे प्रभावित किया है। बर्गसॉ के इस काल-प्रत्यय ने प्राचीन प्रकार के कथानक के प्रति लेखको के मन मे सदेह उत्पन्न कर दिया। प्राचीन कथानक मे पात्रों का विकास काल-क्रम के आधार पर दिखाया जाता था, किन्तु इस काल-प्रत्यय के आधार पर इस प्रकार के कथानक का विकास हुआ जो पूरी स्वतत्रता के साथ आगे भी जा सकता है और पीछे भी, और इस प्रकार काल-प्रवाह को पकडने का प्रयत्न करता है। सामान्यत: मानव की जानकारी मे भी काल का ऐसा ही प्रवाह है। इसी विचार-धारा के साथ फ्रायड और युग की चेतना-दृष्टि भी अत्यन्त निकटता से सम्बद्ध है। इस दृष्टि मे चेतना-बाहुल्य का महत्त्व तो है ही, साथ ही चेतना मे मनुष्य की समस्त अनुभूतियो की उपस्थिति भी निहित है। इतना ही नही, वरन् मानव-जाति की समस्त अनुभूति की उपस्थिति भी निहित है। मनुष्य के जीवन मे उसके अतीत की स्मृतियो का भी बहुत बडा महत्त्व होता है। अत: किसी पात्र की चारित्रिक विशेषता को समझने के लिए उसके वर्तमान को ही जानना यथेष्ट नही है, वरन् उसके भूत को भी जानना आवश्यक है। इस कारण जो उपन्यासकार काल के सतत प्रवाह के प्रत्यय और चेतना को स्वीकार करके चलता है, वह चेतना के विभिन्न स्तर के यौगपत्य को सप्रेषित करना चाहेगा और इसके साथ ही वह यह

भी अनुभव करेगा कि किसी पात्र के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य उसकी वर्तमान चेतना के प्रवाह के माध्यम से उसके अतीत के सूक्ष्म परीक्षण करने से ही बताया जा सकता है। जब व्यक्ति की चेतना पर अधिक बल दिया जाता है तो उसके साथ ही व्यक्ति के अकेलेपन के एहसास को अधिक तीव्र बना दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के बन्धन मे बँधा हुआ है, उसका अपना आसग है जो उसको विगत अनुभूतियो से निर्मित होता है। वह दूसरे व्यक्तियो के सामने अपने जो विचार प्रस्तुत करेगा, उसे दूसरे अपने आसग के आधार पर ग्रहण करेंगे। अतः वह स्वय जो कुछ कहना चाहेगा, उसे अन्य लोग उसी रूप में ग्रहण न कर सकेंगे। इस प्रकार सारा सामाजिक सम्बन्ध झूठा है। अतः अकेलापन मानव की आवश्यक स्थिति है। तथापि सप्रेषण की अभिलाषा मानव की मनोवृत्ति मे अत्यन्त गहराई से विद्यमान है और अकेलेपन से मुक्ति पाने की अभिलाषा भी अत्यन्त बलवती होती है। इसी कारण वह अपने सीमित समाज मे अपना व्यवहार करता है। जहाँ तक सामाजिक परम्पराओ का प्रश्न है, वे शून्य और यान्त्रिक है और मनुष्य के आतरिक जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नही। इस स्थिति मे विशाल समाज का प्रश्न ही नही उठता, केवल रुचि-भावना के अनुकूल छोटे समाज की कल्पना की जा सकती है, जो मैत्री भाव के आधार पर निर्मित हो सकता है। यह समाज भी कृत्रिम ही होता है। मानव अपनी भावनाओ और विचारो के सप्रेषण के अनन्तर और अधिक आकुलता तथा अकेलेपन का अनुभव करता है। आधुनिक युग मे अकेलापन यथार्थ है और प्रेम आवश्यकता है, किन्तु दोनो को एक साथ किस प्रकार लाया जा सकता है। जब व्यक्ति अपनी विलक्षण और व्यक्तिगत चेतना से बँधा हुआ है तो ऐसे व्यक्तियो के ससार मे प्रेम किस रूप में सभव है! आज के युग मे समाज की पुरानी मान्यता भू-लुठित हो चुकी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार के उपन्यास कुछ सीमा तक अहवाद के ही मार्ग निर्मित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास-रचना-प्रविधि मे चेतना-प्रवाह का विशेष महत्व है, जिसे मे सिन्क्लेयर ने सबसे पहले १६१८ मे डोरोथी रिचार्डसन के उपन्यासो की आलोचना करते समय प्रयुक्त किया था। मूलतः इसका प्रयोग विलियम जेम्स ने अपने 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' नामक ग्रथ मे किया है। विलियम जेम्स ने चेतना के प्रवाह की ओर सकेत किया है और वही से मे सिन्क्लेयर ने इसे गृहीत किया है। आगे चलकर चेतना-प्रवाह बहुप्रचलित शब्द बन गया और अनेक उपन्यासकारो के सदर्भ मे इसका प्रयोग होने लगा। इस चेतना-प्रवाह के उपन्यासकार अपने पात्रो का सृजन इस रूप मे करते

---

१. डेविड डैचेज : द नॉवेल एंड द मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ९-१०।

हैं कि पाठक को प्रत्यक्षतः पात्रो की मानसिक स्थिति का बोध होता है। उपन्यासकार जो पात्र और पाठक के मध्य मध्यस्थता का काम करता था, उसकी वह भूमिका समाप्त हो गई। पाठक पात्रो की चेतना के सतत प्रवाह को निरन्तर अनुभूति करता रहता है। इस प्रकार पात्रो की प्रत्यक्षता और परिचय दोनो का लाभ पाठक को प्राप्त होता है। चेतना-प्रवाह के पात्रो की मानसिक स्थिति का जितना सजीव परिचय पाठकों को प्राप्त होता है, उतना अन्य प्रकार के उपन्यासो के पात्रो का नही।

चेतना-प्रवाह मनोविज्ञान से गृहीत है और बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक के मनोविज्ञान से प्रभावित है। उपन्यास-साहित्य मे डोरोथी रिचार्डसन ने इस रचना-प्रविधि का सबसे पहले प्रयोग किया। जेम्स ज्वॉयस और वर्जिनिया वुल्फ ने इस रचना-विधि को यथेष्ट मात्रा मे विकसित किया।

चेतना-प्रवाह-प्रविधि के लेखक कारण-कार्य की शृंखला मे पात्रो का विकास दिखाना अभीष्ट नही समझते, चेतना-प्रवाह के सातत्य मे काल का प्रत्यय ही परिवर्तित हो गया है। पात्र के चरित्र के स्थिर वर्णन और काल-क्रम के आधार पर वर्णन से किसी पात्र के चरित्र का मनोवैज्ञानिक रूप नही प्रस्तुत किया जा सकता। चेतना-प्रवाह के लेखक पात्रो की चेतना के उन स्वरूपो मे अभिरुचि रखते है जो व्यक्ति के विकास के रूप मे गृहीत नही हो सकते, वरन् जो गत्यात्मक और स्वतत्र है। चेतना काल-क्रम की भावना से स्वतत्र है। किसी नवीन घटना की अनुभूति अतीत की अनुभूतियो से अनुशासित होती है और प्राचीन अनुभूति के आसग से ही वर्तमान अनुभूति अपना स्वरूप प्राप्त करती है।

चेतना-प्रवाह-प्रविधि अपनाने से लेखक काल के आयाम के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रविधि मे केवल स्पष्ट स्मृतियाँ ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध नही होती, अपितु हमारे मस्तिष्क के बहुत से अस्पष्ट तत्त्व भी प्रकाश मे आते है जो ऊपर से असगत से प्रतीत होते है, किन्तु मौलिक स्थिति मे उनके प्रकाशित होने का औचित्य विद्यमान रहता है। लेखक अतीत की परिवर्तनशील घटनाओ की परम्परा का सदर्भ देते हुए वर्तमान स्थिति के आसग और स्मृति से परिवर्तित मस्तिष्क की अवस्थाएँ प्रदर्शित कर सकता है। यदि इस मानसिक स्थिति को प्रदर्शित करने मे लेखक कौशल से काम लेता है तो वह एक साथ ही अपने दो लक्ष्यो को पूरा कर लेता है। वह अपने पात्र की वर्तमान अनुभूति की यथार्थ प्रकृति की ओर सकेत कर सकता है और साथ ही वह अपने पात्र के वर्तमान क्षण से अतीत जीवन के तथ्य भी अवान्तर रूप मे प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार काल-क्रम के आधार पर अत्यल्प काल के जीवन को प्रस्तुत करने की उसकी योजना हो सकती है, किन्तु उसका पात्र ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर पूर्ण उतर सकता है। अतीत की घटनाओ की क्रिया-प्रतिक्रिया को अनेक

रूपो में प्रस्तुत कर वह एक दिन की सीमित अवधि मे अपने पात्र के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित कर सकता है ।

यह प्रविधि पारम्परिक स्मृति-अप्रासगिकता का ही विस्तार है । किन्तु जो लेखक घटना और घटना के प्रति पात्र की प्रतिक्रिया के विकास को परस्पर सम्बद्ध करके दिखाना चाहता है, वह चेतना के उस अश का उपयोग कर सकता है । जहाँ अतीत वर्तमान को आगे धकेलता है और उसे अप्रासगिक के रूप मे अनुकूलित करता है। यह नियम के अपवाद के रूप मे रहता है, किन्तु यदि अधिक सीमा तक इसका उपयोग होता है तो यह कथा के प्रवाह को छिन्न-भिन्न कर देता है । चेतना-प्रवाह-प्रविधि में लेखक ऐसे सदर्भों और विषयान्तर को यथोचित और प्रासगिक सिद्ध कर पाता है, क्योकि उन्ही के माध्यम से कहानी प्रस्तुत की जाती है और उसकी अन्विति पूरी होती है । मस्तिष्क की दशा का वर्णन करने की यह नवीन प्रणाली कहानी कहने की नवीन प्रविधि है । चेतना-प्रवाह की प्रविधि मात्र मस्तिष्क की दशाएँ वर्णित करने की प्रविधि नही है, क्योकि इस प्रविधि में कथा-शिल्प और चरित्र-निर्माण का शिल्प भी आक्षिप्त है । इसी कारण ज्वॉयस अपने उपन्यास 'यूलिसिस' मे एक दिन की घटनाओ के आधार पर सर्वाधिक पूर्ण और गतिशील पात्र निर्मित कर सके हैं । इस प्रविधि मे कथा की यौक्तिक प्रस्तुति की और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्तियाँ हैं । इस नवीन प्रविधि मे मानसिक स्थितियो को वर्णित करने की अपूर्व क्षमता है ।

इस प्रविधि के अपने लाभ हैं । इससे इस बात का बोध हो जाता है कि मानव के व्यक्तित्व का सतुलन अनिश्चित रहता है; मानव की मनःस्थिति स्थिर नही होती, वरन् वह अभिलाषा से स्मृति को मिश्रित करने वाली प्रवाहशील स्थिति है जो निरन्तर गतिशील बनी रहती है । चेतना-प्रवाह की प्रविधि अपनाकर चलने वाले लेखक यह बात स्वीकार कर सकते है कि पात्र का चित्रण उपन्यास लेखक के लिए सभव नही है, क्योकि पात्र प्रक्रिया है, कोई स्थिति नही है और अपने परिवेश के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया कार्यावस्था मे इस प्रक्रिया को दिखाने से ही प्रदर्शित की जा सकती है । मनुष्य का चरित्र परिवेश के प्रति उसकी सशक्त और वास्तविक प्रतिक्रियाएँ ही हैं । यदि चेतना-प्रवाह-प्रणाली पूरी सूक्ष्मता और तीव्रता से प्रयुक्त की जाए तो इसकी गभीरता से उस लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है, जिसकी पूर्ति पारम्परिक प्रणाली के विस्तार से होती है । यह ऐसी प्रणाली है, जिससे पात्रो को स्थान और काल के परे चित्रित किया जा सकता है । यह चेतना को घटनाओ के कालिक क्रम से पृथक् कर देती है और यह अतीत के आसगो और सकेतो के माध्यम से मानसिक स्थिति को इस रूप मे अन्वेषित करने का अवसर प्रदान करती है कि सम्पूर्ण को देखने से पहले हमे

उसे सशक्त और यथार्थ बनाने के लिए समय की प्रतीक्षा नही रहती ।[1]

चेतना-प्रवाह-प्रविधि मे पात्रो की मन.स्थिति और विचारो को दर्शाने के लिए अनेक प्रणालियाँ उपयोग मे लाई जाती है, जिनमे पात्रो के पत्रो का विशेष महत्त्व है। पत्रो के माध्यम से उनकी विचार-भूमि और मनःस्थिति को व्यक्त किया जाता है, किन्तु इस प्रकार की प्रणाली मे एक दोष है। पत्रो मे सामान्यतः औपचारिकता निर्वाह होने के कारण मनःस्थिति का ठीक-ठीक अकन नही हो पाता। इस कारण कुछ सीमा तक इसका प्रभाव निषेधात्मक होता है। अतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इस प्रणाली का कम से कम उपयोग करते है। डायरी पत्र की तुलना मे अधिक उपयोगी प्रणाली सिद्ध हो सकती है। किन्तु लेखक को डायरी लेखक की किसी निश्चित परिस्थिति मे अपनी मनःस्थिति और मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति की भावना को संप्रत्ययात्मक ढग से प्रस्तुत करने के निमित्त सर्वदा सावधान रहना होगा। दोनो प्रकार की प्रणालियाँ कुछ सीमा तक ही प्रयोग मे लाई जा सकती है। यदि पत्र-लेखक और डायरी-लेखक पात्र स्पष्टवादी नही है तो उनके पत्रो और डायरी के माध्यम से उपन्यास लेखक उनकी मनःस्थिति और विचार-भूमि को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर सकता। इसके लिए उसे दूसरी प्रणाली को अपनाना पडेगा। अन्य प्रकार के उपन्यास लेखक के समान ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक को भी सर्वज्ञ की भूमिका अपनानी पडती है और इसी भूमिका को अपना कर वह अनेक साधन-स्रोतो का मथन कर अपने पात्र की मानसिक स्थिति और विचारो की अभिव्यक्ति करता है। लेखक जो विशेष प्रकार की प्रणालियाँ अपनाकर चलता है, उनमे पूर्वदीप्ति का विशेष महत्त्व है। पूर्वदीप्ति प्रणाली मे उपन्यासकार घटनाओ के क्रम की सीधी रेखा न खीचकर उन्हे पात्र की स्मृति-तरगों के रूप मे प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही मुक्त आसग प्रणाली, मनोविश्लेषण, प्रत्यवलोकन-प्रणाली, स्वप्न-विश्लेषण, प्रतीकात्मक प्रणाली आदि का भी लेखक यथास्थान उपयोग करते है। मुक्त आसंग प्रणाली मे लेखक पात्र को ऐसा अवसर प्रदान करता है कि वह अपने जीवन की पूर्व घटनाओ को उनके स्वाभाविक रूप में कहता जाता है। मनोविश्लेषण-प्रणाली मे भी पात्र की ग्रथियों को दूर करने के लिए पूर्व घटनाओ को स्मृति के धरातल पर अकित करने का प्रयत्न किया जाता है। कभी विगत जीवन की घटनाओं को मुड कर देखने की तीव्र इच्छा जागरित होती है। लेखक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर पात्र को पीछे मुड कर देखने के लिए विवश कर देता है और वह अपने विगत जीवन की घटनाओ को बिना किसी क्रम से अपनी स्मृति के धरातल पर उपस्थित करने लगता है। इस प्रणाली को प्रत्यवलोकन

---

१. डेविड डैचेज—द नॉवेल एड द मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ १३-२४ ।

प्रणाली कहते है। स्वप्न-विश्लेषण मे मानसिक ग्रंथियो को खोजने का प्रयत्न होता है। किसी भावना या इच्छा को यदि पात्र साक्षात् साकेतिक रूप मे प्रस्तुत नही कर पाता तो उसे व्यक्त करने के लिए प्रतीको का सहारा लेना पडता है। प्रतीकात्मक प्रणाली मे इसी रूप मे वर्णन मिलता है। उक्त समस्त प्रणालियो के मूल मे पात्र की स्मृति, विशेष परिस्थितियो का आसग और उसका अचेतन मस्तिष्क है, जिन्हे पाठको के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए लेखक अनेक साधनो का उपयोग करता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कुछ अपनी विशेषताएँ होती है। इसमे कथा-वस्तु सुसघटित नही होती। इसमे सामान्यतः काल और स्थान का आयाम शिथिल पड जाता है। इस प्रकार के उपन्यास की कथा मे विस्तार न होकर गभीरता होती है। एक दिन के कथानक की ही योजना ऐसी हो सकती है, जिसमे पात्र के चरित्र का पूर्ण और गत्यात्मक स्वरूप परिलक्षित होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे पात्रो का बाहुल्य नही होता। कम से कम पात्रो की योजना की जाती है, जिससे उनके चारित्रिक महत्त्व के उद्घाटन का अधिक से अधिक अवसर लेखक को प्राप्त होता है। इस प्रकार के उपन्यास मे लेखक का ध्यान वस्तु-जगत् की ओर न होकर अन्तर्जगत् की ओर होता है और वह वैयक्तिक अनुभूति के प्रकाशन का ही यत्न करना है। चेतना-प्रवाह-प्रविधि को अपनाकर वह अपने पात्रो के अन्तर्जगत् का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

आदर्श और यथार्थ

आदर्शवाद जीवन के प्रति एक प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायता से जीवन और जगत् का मूल्याकन किया जाता है। आदर्शवाद भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक महत्त्व देता है। इसमे जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यो को स्वीकार किया जाता है। आस-पास के भौतिक जगत् के परे वह किसी चेतन सत्ता को विशेष महत्त्व प्रदान करता है जो दृश्यमान जगत् का स्रष्टा है। समस्त आदर्शवादी दार्शनिक किसी न किसी रूप मे उस चेतन सत्ता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। साहित्य मे आदर्शवाद जीवन के आतरिक पक्ष की महत्ता को स्वीकार कर चलता है। आतरिक पक्ष मे मानवीय भाव, सुख, दुःख आनन्द, विषाद की परिगणना होती है, जब कि बाह्य पक्ष ऐश्वर्य, वैभव आदि का द्योतक है। आदर्शवाद जीवन के बाह्य पक्ष की अपेक्षा जीवन के आतरिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। इसके अनुसार मानव वास्तविक आनन्द की प्राप्ति भौतिक ऐश्वर्य से नही कर सकता, उसके लिए आतरिक सुख अनिवार्य है। आतरिक सुख की ओर झुकाव होने के कारण यह जीवन के उन मूल्यो को स्वीकार करता है जो श्रेयविधायी, मगलआधायक और सर्जनात्मक होते है। आदर्शवाद के आधार पर जिस साहित्य की सर्जना होती है, उसमे सत् पक्ष की स्थापना और असत् का खडन होता है। आदर्शवाद आशावादी है। इस कारण आदर्शवादी साहित्यकार पाप पर पुण्य की, अधर्म पर धर्म की, अन्याय पर न्याय की, दुराचार पर सदाचार की विजय दिखाना ही अभीष्ट समझता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में, रामायण-महाभारत मे इसी आदर्श की स्थापना का प्रयत्न है। आदर्शवादी यह कभी नही चाहेगा कि अन्यायी अपने अन्याय के लिए दंडित न हो और पुण्यात्मा अपने पुण्य-फल से वचित रह जाए, क्योकि ऐसा होने पर जगत् की व्यवस्था ही विश्रृखलित हो जाएगी और चेतन सत्ता से सब का विश्वास उठ जाएगा। आदर्शवाद चिरन्तन सत्य और मानव-मूल्यो पर आधृत होता है। अतः जो साहित्य

चिरन्तन सत्य और मानवमूल्य को लेकर चलेगे, वे किसी न किसी रूप में आदर्शवादी ही होगे।

आदर्शवाद जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है। इसमे कोई सदेह नही कि जीवन मे चतुर्दिक् दुःख है, विषाद है और रुग्णता है, किन्तु इसके साथ ही जीवन का दूसरा पक्ष भी है, दुःख-विषाद का अत भी है, रुग्णता का उपचार भी है। यदि मनुष्य अपने जीवन को सतुलित रखने का प्रयत्न करे और भौतिकता से ऊपर उठने का प्रयत्न करे तो उसे सुख-शाति प्राप्त हो सकती है और वह आत्म-विश्राति की अनुभूति भी कर सकता है। इसीलिए आदर्शवाद ऐसे साहित्य को स्वीकार करता है जो रुग्णता, दुःख और निराशा को अपना उपजीव्य न बनाकर स्वस्थता, सुख और आशा को अपना उपजीव्य बनाता है, जो कल्पना के माध्यम से ऐसे भविष्य का निर्माण करता है जो भावात्मक, मंगलधायक और आशाजनक होता है। आदर्शवादी साहित्यकार दुःखांत की तुलना मे सुखात रचना को अधिक पसद करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य मे अधिकाश नाटक सुखांत ही हैं जो प्राचीन लेखको की "आदर्शवादिता के परिचायक है। आदर्श के सम्बन्ध मे आचार्य नददुलारे वाजपेयी का मत है आदर्शवाद अनेकता मे एकता देखने का प्रयत्न करता है, वह विशृ खलता मे शृ खला, निराशा मे आशा, दुःख मे सुख-समाधान का प्रतिष्ठा करने का उद्देश्य रखता है।[1]

आदर्श के भावात्मक पक्ष पर ज़ोर देने वाले साहित्यकार चिरन्तन सत्य और शाश्वत मानव-मूल्यो के प्रकाशन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते है। वे जीवन के भौतिक यथार्थ को विशेष महत्त्व न देकर जीवन की सभावनाओ को विशेष महत्त्व देते है। जीवन के यथार्थ स्वरूप से घबरा कर उसे अभावात्मक रूप मे नही ग्रहण करते, वरन् उसी के मध्य उन्हे आशा की सुनहली किरण भी दिखाई पडती है। 'जीवन क्या है' यह उनके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नही है, प्रत्युत 'जीवन कैसा होना चाहिए' उनकी दृष्टि मे यह रहता है। वे कल्पना का आँचल पकड ऐसे विश्व का निर्माण करते है जो सर्वथा स्पृहणीय और सग्राह्य प्रतीत हो। कल्पना की अतिशयता के कारण ही उन पर यथार्थवादी का आक्षेप है—'They are riding on horseback over vacuum.' अर्थात् उनका सारा निर्माण कल्पनाश्रित है, यथार्थ की उसमे कोई गध नही है।

आदर्शवाद मानव के भविष्य मे आस्था रखता है। उसके लिए मानव का भविष्य कुज्झटिकापूर्ण नही प्रतीत होता, प्रत्युत वह अत्यन्त उज्ज्वल है। इसी प्रकार वह जीवन की विकृतियो को केवल सामाजिक रोग के रूप मे स्वीकार करता है, जब

---

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३६३।

कि जीवन का सस्कार-परिष्कार ही उसका लक्ष्य है। वह मानव मनोवृत्तियो के औदात्य और विकास मे विश्वास रखता है। संसार के अधिकाश महान् साहित्यकार आदर्शवादी ही हुए हैं, क्योकि उनकी सर्जना शाश्वत मूल्यो और चिरन्तन सत्य को दृष्टि मे रखकर मानव की आकाक्षाओ और सभावनाओ पर आश्रित रही है। उन्होने सामान्यतः लोक-मगल-विधायक तत्त्वो को ही अपनी सर्जना का विषय बनाया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, होमर, वर्जिल, तुलसीदास, शेक्सपियर आदि आदर्शवादी कवि हो चुके है। आदर्शवाद मूलतः कविता का विषय रहा है और कविता मे इसकी अभिव्यक्ति का यथेष्ट अवसर भी रहा है। आदर्शवादी रचना मे कल्पना और भावुकता का आतिशय्य देखा जाता है और इस प्रकार की शैली कविता के लिए अधिक उपयुक्त होती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि गद्य मे आदर्शवाद की गुजाइश नही होती। गद्य मे भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है, क्योकि गद्य-काव्य या पद्य-काव्य लेखक-विशेष के दृष्टिकोण का वाहक-मात्र होता है। यदि लेखक आदर्शवादी है तो गद्य मे भी उसकी विचार-धारा का सहज प्रवाह देखा जा सकता है। तॉलस्तॉय और प्रेमचद इसी प्रकार के लेखक रहे है। किन्तु गद्य के आविर्भाव ने लेखको के सामने एक ऐसी भूमि प्रस्तुत की जो आदर्शवाद की विरोधिनी है, जो 'क्या होना चाहिए' के स्थान पर 'क्या है' पर ज्यादा ज़ोर देती है। इस प्रवृत्ति को यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। साहित्य मे यथार्थवाद का मूल सिद्धात है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप मे चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के माध्यम से अनुरजित रूप प्रदान करना और न तो किसी पूर्व ग्रह से उसे दूषित बनाना। वस्तुतः यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् से है। मानव-जीवन अपने स्वाभाविक रूप मे दुर्बलताओ और सबलताओ का पुज है। जीवन का वही रूप यथार्थ है, जिसमे जीवन के दोनो पक्षो को किसी प्रकार के पूर्वग्रह के बिना प्रस्तुत किया जाता है। भौतिक जगत् या वस्तु-जगत् ही यथार्थ नही है, भाव-जगत् भी उतना ही यथार्थ है। मानव के सुख, दुःख, आशा, आकांक्षा की भी उसके जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यथार्थ-चित्रण में वस्तु-जगत् के साथ ही भाव-जगत् का भी समावेश चित्रण को अधिक प्रभावशाली सिद्ध करता है।

कला एक ऐसा साधन है जिससे मनुष्य यथार्थ को पकडने और ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी चेतना की ज्वाला मे यथार्थ को तपाकर नवीन रूप प्रदान करता है। सारी रचना-प्रक्रिया और कलाकार की सारी वेदना जगत् का वास्तविक चित्र निर्मित करने के प्रयत्न मे यथार्थ के साथ इस तीव्र सघर्ष मे निहित है। महान् कलाकार अपनी राजनीतिक विचार-धारा के बावजूद यथार्थ के साथ तीव्र और क्रान्तिकारी संघर्ष करते हैं, उसका सघर्ष क्रान्तिकारी इस कारण कहा जाता है, क्योकि यथार्थ को परिवर्तित करने की वह चेष्टा करता है। उसके लिए सारा जीवन

ही सघर्ष का जीवन है। कला तभी सफल सिद्ध होती है, जबकि वह किसी प्रकार के सिद्धान्त-विशेष मे परिबद्ध न होकर मुक्त भाव से सभी रूपो और विश्वासो को अपनाकर चलती है। कला और सिद्धान्तवादिता दोनो एक दूसरे से बहुत अधिक दूर होते है। प्रत्येक कलाकार को मूलतः कलाकार होना चाहिए। मार्क्सवादी कलाकार के लिए भी यह नियम इसी रूप मे प्रयुक्त होता है। कला का रूप और कला का वर्ण्य विषय दोनो एक ही होते हैं। यद्यपि महत्त्व वर्ण्य विषय का होता है, किन्तु रूप का प्रभाव वर्ण्य विषय पर भी पडता है। मार्क्सवाद को लेखक केवल फैशन के रूप मे नही अपना सकता। यह उसकी जीवन-दृष्टि होनी चाहिए, यथार्थ का निकष होना चाहिए। इसके माध्यम से वह उस गंभीर ज्ञान को रूपाकार प्रदान करता है और अनुशासित कर सकता है, जिसकी अभिव्यक्ति अनिवार्य होती है। मार्क्सवाद निस्सदेह लेखक की यथार्थ जगत् को जानने और निरीक्षित करने की प्रणाली होनी चाहिए। समस्त रूपो और विश्वासो को अविचारित रूप मे अपनाकर चलना कला-धर्म नही कहा जा सकता। कला ग्रहण और त्याग को ही अपनाकर चल सकती है। कलाकार का सम्बन्ध केवल सत्य से होना चाहिए। लेनिन के अनुसार सत्य यथार्थ के प्रत्यक्ष स्वरूप के समस्त पक्षो की पूर्णता और उनके पारस्परिक सम्बन्ध से निर्मित होता है। विषय-वस्तु के विचार तक पहुँचने के लिए ज्ञान शाश्वत और चिरतन साधन है। मनुष्य के विचार मे प्रकृति की अभिव्यक्ति मृत और सूक्ष्म रूप मे बिना गति के और विरोध के बिना नही समझी जानी चाहिए, अपितु गति की शाश्वत प्रक्रिया, विरोधो के उदय और उनके समाधान मे समझी जानी चाहिए। वह कला जो इस प्रकार के दर्शन को स्वीकार करती है, वह निश्चय ही समस्त रूपो और विश्वासो को जानकर किसी निर्णय पर पहुँच सकती है। इस प्रकार की कला मानव-कला है और इसी कारण मार्क्सवादी लेखक साधिकार यह कहता है कि समाजवादी कला, नव यथार्थवाद, आज के युग मे सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता को अपना कर चलता है जो रचनाकार को यथार्थ के तीव्र सघर्ष मे सफल बनाता है।[1] उपन्यास ही एक ऐसा साधन है जो मानव का पूर्णतर चित्र प्रस्तुत कर सकता है, जो मानव के आन्तरिक जीवन को भी उसकी सक्रियता मे प्रदर्शित कर सकता है। मार्क्स ने मनोविश्लेषण के व्यक्तिपरक सिद्धान्त का खडन किया है। मनुष्य के विचारो और परिवर्तनो की प्रक्रिया को वैयक्तिक कारणो के आधार पर ही सिद्ध नही किया जा सकता। उसका वस्तुपरक कारण भी अनिवार्य होता है।

यथार्थवाद मे वस्तुओ का सच्चा विवरण तो आवश्यक होता ही है। इसके साथ ही सर्वसामान्य परिस्थिति मे प्रतिनिधि पात्रो की निर्मिति भी आवश्यक होती है।

---

१. राल्फ फॉक्स : द नॉवेल एंड द पीपल।

यथार्थवाद मूलतः जीवन के यथातथ्य चित्रण को महत्त्व प्रदान करता है, जिसे हम फोटोग्राफिक चित्रण भी कह सकते हैं, जिसमे जीवन के सत्-असत् दोनो पक्ष आ जाते है, किन्तु सामान्यतः यह देखा जाता है कि यथार्थ के नाम पर जीवन के जुगुप्सित-घृणित पक्ष को अधिक उभारा जाता है। यथार्थवाद आदर्शवादका विरोधी होने के कारण कल्पनातिशय्य को स्वीकार नही करता, किन्तु यथार्थ के नाम पर उससे यह आशा की जा सकती है कि जीवन की दुर्बलताओ-सबलताओ का चित्रण करते हुए वह स्वस्थ और सुन्दर के निर्माण में योग दे सकता है, किन्तु उसके विकसित स्वरूप को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उसने आशा के विपरीत काम किया है और समाज के विकृत रूप को ही चित्रित किया है।

मार्क्सवाद वर्तमान युग मे वैज्ञानिक यथार्थवाद नाम से अभिहित होता है। मार्क्सवादी साहित्य कल्पना और आदर्श को न अपनाकर ठोस यथार्थ को अपनाकर चलता है। मार्क्सवादी साहित्य का सम्बन्ध ऐतिहासिक विकास से मानते है जो एक यथार्थ वस्तु है। मार्क्सवाद और पूंजीवाद के यथार्थ मे अतर होता है। पूंजीवादी यथार्थ सीमित और रूढ़िवादी है, जबकि मार्क्सवादी यथार्थ असीम और विकासशील। मार्क्सवादी जिस यथार्थ का चित्रण करता है, वह दलगत राजनीति अथवा उसकी राजनीतिक दृष्टि पर निर्भर न होकर उसके अपने दृष्टिकोण और निरीक्षण-शक्ति पर निर्भर करता है। यथार्थवादी साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नही है कि मार्क्सवाद मे उसका विश्वास हो ही। मार्क्सवाद से प्रभावित हुए बिना भी वह यथार्थ का सफल चित्रण कर सकता है।

कुछ लोग प्रकृतिवाद को यथार्थवाद का ही रूप समझते हैं। प्रकृतिवाद मनुष्य को प्रकृति के धरातल पर प्रस्तुत कर अन्य प्राणियो के समकक्ष लाकर रख देता है। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि विकारो से ही भरा हुआ समझता है और उसकी इन्ही विकारो को प्रकट करने वाली वृत्तियो का खुल कर वर्णन करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इसी रूप मे मनुष्य को नही स्वीकार करता, किन्तु वह मनुष्य की भावनाओ और विचारो का अकन करते-करते कभी-कभी प्रकृतिवादी धरातल को अपना लेता है। प्रकृतिवाद मानवतावाद का विरोधी होता है, जबकि यथार्थवाद समग्र रूप मे मानवतावाद का विरोधी नही है। कही-कही वह उसके विरोध मे चला जाता है।

यथार्थवाद तभी अपनी सही भूमिका अपना सकता है, जबकि वह यथातथ्य चित्रण मे स्वस्थ-अस्वस्थ दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो को अपनाकर चलेगा। अस्वस्थ पक्ष को प्रस्तुत करते समय लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि अस्वस्थ पक्ष के लिए ही उसका चित्रण न हो, प्रत्युत उसके पीछे कोई सामाजिक रचनात्मक प्रवृत्ति हो।

अन्तश्चेतनावादी भी अपने को यथार्थवादी कहते है । अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति के अन्तर्मुखी यथार्थ को साहित्य का प्रेरक तत्त्व स्वीकार करता है और उसी के आधार पर साहित्य का मूल्याकन करता है । किन्तु एक बात सहज स्वीकार्य है कि व्यक्ति का परिवेश उसकी मनोभूमि के निर्माण मे अपना विशेष महत्त्व रखता है । अतः व्यक्ति के मानसिक यथार्थ का अकन उसे परिवेश से पृथक् करके नही किया जा सकता । यथार्थवादी लेखक यदि स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाकर चलता है तो व्यक्ति को समाज-सापेक्ष स्थिति मे देखता है और इस प्रकार उसके बाह्य और आतरिक दोनो पक्षो का चित्रण करता है । बाह्य परिवेश पर अधिक बल न देने के कारण अन्तश्चेतनावाद एकागी सिद्ध हो जाता है और यथार्थवाद यदि वस्तुजगत् को ही ग्रहण करता है और भाव-जगत को तिरस्कृत करता है तो वह भी एकागी सिद्ध हो जाता है ।

आदर्शवादी साहित्यकार भाषा-प्रयोग मे अधिक सतर्क रहते है । वे भाषा के सौंदर्य-निर्माण को अधिक महत्त्व देते है और उनकी भाषा मे भावुकता अधिक होती है । यथार्थवादी अर्थ की ओर अधिक सावधान रहता है । वह शब्दो को नवीन अर्थसत्ता प्रदान कर उनके व्यजक तत्त्व को बढ़ाता है तथा उसकी शैली मे विनोद, तर्क, व्यग्य और बौद्धिकता की प्रधानता रहती है । यथार्थवादी सामान्य रूप मे जन-भाषा को अपना कर चलते है और सामान्य व्यवहार के शब्दो को साहित्य मे प्रतिष्ठित करते हैं । लोक-जीवन के विभिन्न पक्षो को वे यथार्थ रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं ।

अतश्चेतनावादी मनोवैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर चलने के कारण सकेतात्मक और प्रतीकात्मक शैली अपनाकर चलते है । उनकी भाषा मे किंचित् गूढता रहती है । विषय-प्रतिपादन भी सामान्य जीवन से कुछ हट कर होने के कारण भिन्न प्रकार का होता है । अतश्चेतनावादियो की शैली सामान्य पाठक के लिए दुर्बोध होती है ।

क्या उपन्यास कला-रूप है ?

फॉर्स्टर के अनुसार उपन्यास मे जीवन का कोई न कोई स्वरूप होना चाहिए। उन्होने इसी आधार पर अनेक उपन्यासकारो की आलोचना की है। हेनरी जेम्स के सम्बन्ध मे उनका मत है कि उन्होने मानवीय जीवन के अतिरिक्त पैटर्न को अपने उपन्यासो मे विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उन्होने ऐसे पैटर्न निर्मित किए है जो मानवता के विरोधी है, किन्तु अपने आप मे बहुत ही सुन्दर है। हेनरी जेम्स ने जीवन की उपेक्षा की है। इस कारण वे साहित्य मे स्थायी स्थान नही प्राप्त कर सकते। फॉर्स्टर जीवन की कोई व्याख्या न प्रस्तुत कर इतना ही कहते है कि जीवन का चित्रण करने के लिए कोई विधान निर्मित नही किया जा सकता। उपन्यास भी अन्य कला-रूपो के समान ही होता है और इसकी रचना मे लेखक की कला-कुशलता अपेक्षित होती है। इसका कौन-सा रूप प्रभावित करता है और कौन-सा रूप प्रभावित नही कर पाता। सामान्यत: यही एक ऐसा मापदड है जो उपन्यास की आलोचना के समय प्रयुक्त हो सकता है। उपन्यास रचना के क्या विधान है और उपन्यास का जीवन से क्या सम्बन्ध है, इनके सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नही प्रस्तुत किया जा सकता। मूलत: उपन्यास की आलोचना के समय हमारी मनोवृत्तियाँ ही विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। पाठक अपनी इच्छानुसार निर्णय करने के लिए स्वतत्र रहता है। किसी पाठक को उपन्यास मे जीवन का चित्र प्रभावशाली प्रतीत होता है, किसी को उपन्यास की कला पसन्द आती है। वर्जिनिया वुल्फ फॉर्स्टर से सहमत नही है। उनके विचार से उपन्यास का कुछ कलात्मक दायित्व भी हो सकता है। लेखक अपनी रचना मे शब्दो का किस रूप मे प्रयोग करता है, इसका भी अपना महत्त्व है। शब्द ही उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम है। शब्द के अतिरिक्त अन्य कलात्मक गुणो का भी अपना महत्त्व होता है : पैटर्न और सौदर्य ऐसे कलात्मक गुण है जो रचना के मूल्य को बढ़ाते हैं। इनके साथ ही लय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु फॉर्स्टर ने इन सबका चलते ढग से वर्णन कर दिया है। वर्जिनिया वुल्फ़ के अनुसार फॉर्स्टर उपन्यास को

जीवन का मुखापेक्षी समझते है । वह जीवन से ही अपने साधन-स्रोत को जुटाता है । अतः उसे जीवन के सदृश होना चाहिए और यदि वह ऐसा नही हुआ तो वह कालजयी नही सिद्ध हो सकेगा । कविता और नाटक मे शब्द जीवन के प्रति अपनी मुखापेक्षिता दिखाए बिना भावक की भावना को प्रोत्तेजित कर सकते है और गभीर भी बना सकते हैं, किन्तु उपन्यास मे जीवन के प्रति उसकी मुखापेक्षिता अनिवार्य होती है । वर्जिनिया वुल्फ इस प्रकार के दृष्टिकोण को अकलात्मक मानती है, किन्तु अन्य कला-रूपो की आलोचना मे ही इस प्रकार की अकलात्मक प्रवृत्ति विलक्षण प्रतीत होती है और उपन्यास की आलोचना मे ऐसा कुछ नही होता । इसमे कोई सन्देह नही कि उपन्यास ने अपनी विकास की अवस्था मे सहस्रो लोगो की भावनाएँ उद्रिक्त की है, परन्तु इस सन्दर्भ मे कला को घसीटना कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है । कला के क्षेत्र मे सगीत, चित्रकला और कविता आ सकती है और उनकी आलोचना कलात्मक सिद्धातो के आधार पर हो सकती है, पर उपन्यास कलात्मक सिद्धात के घेरे मे नही आता । उपन्यास के पात्र, नीति, विषय-वस्तु आदि की चर्चा की जा सकती है, किन्तु उसकी रचना-प्रक्रिया परीक्षित-निरीक्षित नही होती । सम्प्रति ऐसा कोई आलोचक जीवित नही है जो उपन्यास को कला-कृति के रूप मे स्वीकार करे और उसी रूप मे उसकी आलोचना करे ।

वर्जिनिया वुल्फ के अनुसार इगलैंड मे लोग उपन्यास को कला-कृति के रूप में नही ग्रहण करते, जबकि फ्रास और रूस मे उपन्यासकार रचना को गभीरता से ग्रहण करता है । फ्लाबेयर ने गोभी का वर्णन करने के लिए मुहावरे की खोज मे एक मास व्यतीत कर दिया । तॉलस्तॉय ने 'युद्ध और शाति' को सात बार लिखा । उन्होने अपनी रचनाओ को लिखने मे जो इतना कष्ट उठाया, इसके कारण भी उनकी रचनाओ मे वैशिष्ट्य है और वैशिष्ट्य का एक कारण यह भी हो सकता है कि आलोचक इन रचनाओ की आलोचना बडी कठोरता से करते हैं । यदि इगलिश-लेखक और आलोचक उसी गभीरता, श्रम और कठोरता से औपन्यासिक कृतियो को ग्रहण करे तो उपन्यास को कला-कृति कहा जा सकता है ।[१]

हमे यह स्वीकार कर चलना चाहिए कि उस सभी प्रकार के साहित्य का सह-अस्तित्व है, जिसे लेखक बौद्धिक और कल्पनात्मक प्रयास से लिखने के लिए प्रतिबद्ध होता है । सभी प्रकार के साहित्य के क्षेत्र मे एक प्रकार की अतिव्याप्ति होती है और एक दूसरे का स्पर्श करने लगता है । इतिहास, दर्शन आदि के तथ्यो के आकलन और व्यवस्थापन मे कला का स्पर्श पाया जाता है । जब सर्वसाधारण साहित्य मे कलात्मकता

---

१ कलेक्टेड ऐसेज, भाग २, वर्जिनिया वुल्फ, पृ० ५४—५५ ।

और उपदेशात्मकता की अतिव्याप्ति देखी जाती है तो ऐसा कौन-सा आधार निर्मित किया जा सकता है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि कोई रचना-शुद्धतः कला-कृति है और कोई रचना कला-कृति नही है। किन्तु लेखक किस उद्देश्य-विशेष से परिचालित होकर रचना करता है, वही इसका निर्णायक तत्त्व है। जो लेखक किसी सत्य को अभिलिखित या स्थापित करना चाहता है, किसी उद्देश्य को सिद्ध करना चाहता है या अपने पाठक को क्रिया-सम्पादन का प्रोत्तेजन देना चाहता है, उसका मुख्य लक्ष्य शैक्षिक होता है, कला उसके लिए गौण होती है। किन्तु कलाकार अपने विषय के चिन्तन से जनित आनन्द के अतिरिक्त उसका कोई लक्ष्य नही रखता। कलाकार कला को छोडकर अन्य क्षेत्र मे प्रवेश नही करता। वह अपने ही क्षेत्र मे आनन्द का अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को अपनी कल्पनात्मक शैली मे प्रयुक्त कर सकता है। प्रत्यक्ष उपदेशात्मक प्रणाली को अपनाने की उसे कोई आवश्यकता नही रहती। ऐसी स्थिति मे उपन्यास को कला-कृति माना जाए या नही ? उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है और उसमे कोई भी तथा प्रत्येक वस्तु सन्निविष्ट हो जाती है। उसकी कोई सीमा निर्धारित नही है। उपन्यास के लिए सिद्धात और व्यवस्था का कोई प्रश्न नही उठाया जा सकता और यदि ऐसा कोई प्रश्न उठाया जाए तो उसके पुनः परीक्षण की गुजाइश होनी चाहिए। उपन्यासकार कुछ भी कहने और लिखने के लिए स्वतत्र रहता है। वह किसी सिद्धान्त, दर्शन को उपन्यास के माध्यम से अपने पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है और रचना-प्रक्रिया के किसी नियम का पालन करने के लिए बाध्य भी नही होता। उपन्यास-रचना-विधान मे ऐसी नमनीयता है कि कोई लेखक किसी भी प्रणाली से कुछ लिखकर उसे उपन्यास की सज्ञा से अभिहित कर सकता है। इस कारण यदि आलोचक उपन्यास के सदर्भ मे कला की बात करता है तो उपन्यासकार नाक-भौह सिकोडने लगता है। प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार भी उपन्यास को कला के रूप मे स्वीकार करने के लिए तत्पर नही प्रतीत होते। वर्जिनिया वुल्फ़ जो स्वय उपन्यास को ललित कला की अग्रगण्य निदर्शन रही है, उपन्यास को कला-कृति के रूप मे स्वीकार नही कर पाती। इस अध्याय के आरभ में ही हम उनके सम्बन्ध मे कह आए है। वर्जिनिया वुल्फ़ स्वय एक प्रतिभासम्पन्न उपन्यासकार रही है और उन्होने अपने उपन्यासो मे शिल्प-विधि और कला-कौशल की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः उनका यह कथन कि उपन्यास कला-कृति के रूप मे परिगणित नही हो सकता, बहुत ही भ्रामक प्रतीत होता है। वर्जिनिया वुल्फ ने ऐसा कहा है कि कोई भी जीवित आलोचक ऐसा नही है जो उपन्यास को कला-कृति कह सके और उस रूप मे उसका मूल्याकन करे। किन्तु स्वयं वुल्फ ही एक ऐसी—उपन्यासकार हैं, जिन्होंने कला को लक्ष्य मानकर अपने उपन्यासो की रचना की है।

फॉर्स्टर उपन्यास को कला-कृति रूप मे ही स्वीकार करते हैं। वाल्टर रेले ने भी उपन्यास की ललित कला को स्वीकर किया है और इसकी कलात्मक सरचना के विकास की ओर सकेत किया है । पर्सी ल्यूबक के अनुसार उपन्यास कला ही है, क्योकि जीवन की यथार्थ प्रतिलिपि सामान्य रूप में असभव है। इस कारण उपन्यास के लिए भी कला के नियम प्रयुक्त होते हैं।

उपन्यास कला है, क्योकि यह ऐसी वस्तु को प्रदर्शित करता है, जिसे उपन्यास-कार जीवन के सदृश समझता है अथवा जिसे वह जीवन का सत्य समझता है। वह इन तत्त्वो को प्रभावशाली बाह्य आकार मे सम्मिलित रूप मे प्रस्तुत करता है। वह ऐसा इसलिए करता है जिससे पाठक वह देख सकें, जिसे उसने देखा है और उससे आनन्द प्राप्त कर सके। यदि लेखक इस लक्ष्य को पूरा नही कर पाता तो हम उसकी रचना को अकलात्मक कह सकते है। यदि लेखक अपने पाठको को आनन्द प्रदान करने के स्थान पर उन्हे अपने प्रचार-कार्य का साधन बनाना चाहता है तो हम उसे कलात्मक दृष्टि से दोषी ठहरा सकते है। यदि लेखक जो कल्पनात्मक अन्तदर्शन प्रस्तुत करता है, उसके प्रति सच्चा नही है तो भी हम उसे कलात्मक दृष्टि से दोषी पाते है । उपन्यास अपने सामान्य रूप-आकार मे कला के सामान्य सिद्धातों से अनुशातित नही हो सकता। उपन्यास के प्रकार असीम है और इसके रूप इतने अधिक है, जितने अधिक जीवन के है, किन्तु क्या उपन्यास के रूप कविता के रूप से अधिक वैविध्यमय हो सकते हैं अथवा इसके रूप की विविधता की सभावनाएँ अधिक है ? उपन्यास के अनेक प्रकार है और उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, किन्तु इसे कला के क्षेत्र से उसी प्रकार बहिष्कृत नही किया जा सकता, जिस प्रकार कविता को। उपन्यास का सबसे अच्छा रूप वह है जो विषय-वस्तु को सर्वोत्तम रूप मे प्रस्तुत कर सके। उपन्यास मे रूप के अर्थ की इससे बढ कर दूसरी परिभाषा नही हो सकती। सबसे अच्छी कृति वह है, जिसमें विषय-वस्तु और रूप दोनो सघटित हो तथा एक-दूसरे से पृथक् न किए जा सके—ऐसी कृति जिसमे समस्त विषय-वस्तु रूप मे प्रयुक्त हो गई हो और जिसमे रूप समस्त विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करता है। उपन्यास के समान दूसरी कोई कला नही है, जिसकी आलोचना अनेक कोणो से की जा सके, क्योकि उपन्यासकार अनेक कोणो से अपने विषय का प्रतिपादन कर सकता है। ल्यूबक ने इस सत्य को स्थापित कर दिया है कि उपन्यास कला है और यह सभी कला के नियमो का पालन करता है और यदि हम उन नियमों को देखे तो हम विशिष्ट कला के रूप मे इसकी विशिष्टता अन्वेषित कर सकते हैं।[1]

१, मेकिंग ऑफ लिटरेचर, आर, ए, स्कॉट-जेम्स, 'द नॉवेल' अध्याय ।

उपन्यासकार के लिए प्रतिभा, पाण्डित्य मानव-स्वभाव का ज्ञान और सहृदयता अत्यन्त आवश्यक गुण है। इन गुणो मे से किसी के अभाव से उसकी रचना मे दुर्बलता आ जाती है। उपन्यास दैनन्दिन जीवन के सामान्य से सामान्य पक्ष को स्पृष्ट करता है। इस रूप मे दूसरा कोई कला-रूप जीवन को स्पृष्ट नही कर पाता। उपन्यास नाटक की तुलना मे भी जीवन से अधिक साम्य रखता है, क्योकि नाटककार को प्रभाव-निर्मिति के लिए अपने विषय पर ही केन्द्रित रहना पडता है; जबकि उपन्यासकार सामान्य से सामान्य विवरण को सरलता से प्रस्तुत कर सकता है। उपन्यास जीवन के सर्वाधिक सामान्य यथार्थ को ऐसे रूपो मे प्रदर्शित करता है जो स्वयं सामान्य यथार्थ प्रतीत होते हैं। लेखक जिस सादृश्य को अपनी रचना मे प्रस्तुत करता है, वह सादृश्य यदि जीवन के यथार्थ से अधिक वास्तविक और अधिक प्रभावशाली नही प्रतीत हुआ तो लेखक अपने उद्देश्य मे असफल सिद्ध होता है। यही प्रमुख कारण है कि अच्छा उपन्यास लिखना बहुत कठिन होता है।

उपन्यास जीवन के निकट होता है। यह उसकी शक्ति भी है और दुर्बलता भी है। लेखक मे सहृदयता और मानव-स्वभाव का ज्ञान अनिवार्य गुण हैं, किन्तु ये ऐसे गुण है जो लेखक को भ्रमित कर सकते है। इन्हे वही उपन्यासकार अपने वश मे रख सकता है, जिसमे पाण्डित्य और प्रतिभा हो। उक्त दोनो गुण उपन्यास को प्रकृति-इतिहास होने से बचा लेते है। इन दोनो गुणो के कारण ही उपन्यास जीवन की प्रतिलिपि बनकर नही रह जाता और हमारे चिंतन-मनन के लिए ऐसे रूप मे प्रस्तुत किया जाता है कि यह मात्र जीवन के सदृश ही नही प्रतीत होता, वरन् जीवन के प्रति सत्य प्रतीत होता है, किन्तु इसमे लेखक के अन्तर्दर्शन की अभिव्यक्ति रहती है जो यथार्थ की सामान्यता को ग्रहण करते हुए भी उसके कारण सामान्य नही हो पाती।[1]

भारतीय परम्परा मे काव्य या साहित्य को कला के अन्तर्गत परिगणित नही किया जाता था। साहित्य को कला से उदात्त माना जाता था। किन्तु पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित होने के कारण अब साहित्य को भी ललित कला के अन्तर्गत रखा जाता है। सगीत, चित्रकला आदि के समान साहित्य भी कला है, पर सर्वश्रेष्ठ कला। उपन्यास साहित्य का ही अग है। जिस प्रकार साहित्य जीवन की आलोचना के लिए प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार साहित्याग होने के कारण उपन्यास भी। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि उपन्यास जीवन की प्रतिलिपि नहीं है, प्रत्युत जीवन के प्रति लेखक का अन्तर्दर्शन है जो जीवन के सदृश नही होता, वरन् जीवन के प्रति सत्य होता

१, मेकिंग ऑफ लिटरेचर, आर. ए स्कॉट-जेम्स, 'द नॉवेल' अध्याय।

है। उपन्यासकार जीवन को यथारूप में प्रस्तुत न कर अपने कौशल से काट-छांट कर ऐसे रूप मे प्रस्तुत करता है जो आकर्षक और प्रभावशाली सिद्ध होता है और इसी मे उसकी कलात्मकता निहित है। उपन्यास को जीवन का प्रतिरूप सिद्ध नही किया जा सकता। अस्तः उसे कला-रूप के पद से च्युत भी नही किया जा सकता।

द्वितीय खंड

गोदान

हिन्दी उपन्यासकारो मे प्रेमचन्द का स्थान अन्यतम है। उन्हे हिन्दी के सुधी समीक्षक उपन्यास-सम्राट् कहते है। प्रेमचन्द वस्तुतः हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार नही है, वरन् विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासिकारो मे से एक हैं। सामान्य रूप मे सुधी समीक्षक प्रेमचन्द को आदर्शवादी उपन्यासकार कहते हैं और इस कारण उन्हे कुछ सीमा तक सुधारवादी भी मानते है। इसमे कोई सदेह नही कि प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियो मे आदर्शवाद का स्वर मुखर है, किन्तु जैसे-जैसे लेखक का विकास होता गया है, वैसे-वैसे आदर्श के साथ यथार्थ का स्वर भी प्रधान होता गया है। परन्तु यथार्थ के सम्बन्ध में उनका अपना निजी मन्तव्य रहा है, जिससे वे सर्वदा परिचालित होते रहे हैं। उनके मत से यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओ का नग्न चित्र होता है।[1] वे सामाजिक कुप्रथाओ की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए यथार्थवाद की उपयोगिता स्वीकार करते है, किन्तु दुर्बलताओ के चित्रण मे शिष्टता की सीमाओ से आगे बढ जाना अनुचित समझते हैं। उनके विचार से यथार्थ का नग्न चित्र हमे निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमे चारो ओर बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है। परन्तु कोरे आदर्श का चित्रण भी वे समीचीन नही समझते। उनकी दृष्टि में वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। इसे उन्होने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया है।[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की आपत्ति है कि साहित्यिक निर्माण मे यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की वस्तु नही हो

---

१. प्रेमचन्द का 'उपन्यास' नामक निबन्ध।

२. प्रेमचन्द का 'उपन्यास' नामक निबन्ध।

सकती।[1] वे प्रेमचन्द को आदर्शवादी मानते हैं। वस्तुत: प्रेमचन्द अपने कथ्य की प्रस्तुति मे यथार्थवादी है और कथ्य की समस्या के समाधान एव परिणाम मे आदर्शवादो है। अत: उनकी आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता को स्वीकार करने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती। प्रेमचन्द के अपूर्ण उपन्यास 'मगलसूत्र' को यदि छोड दिया जाए तो 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है और प्रौढतम तो है ही। यह बात स्वीकार की जा सकती है कि इस कृति के रचना-काल मे उन पर मार्क्सीय सिद्धान्तो का प्रभाव पडा हो, किन्तु 'गोदान' की विषय-वस्तु और निरूपण-पद्धति को देखते हुए यह बात स्पष्टत: कही जा सकती है कि 'गोदान' मार्क्सीय विचार-धारा से प्रभावित कृति नही है। मार्क्सीय विचार-धारा क्रान्ति को प्रश्रय देती है; दलित वर्ग की भावभूमि को क्रान्ति के लिए प्रोत्तेजित करती है और शोषण को शान्ति एव निरुपाय भाव से स्वीकार करने की निष्क्रिय भावना को गर्हित समझती है, किन्तु 'गोदान' मे शोषण, दलन, अन्याय के प्रति आक्रोश है, यत्र-तत्र मद विद्रोह भाव है, किन्तु सक्रिय क्रान्ति का उद्घोष कही पर भी नही है। लेखक ने अपने युगीन जीवन एव युगीन चेतना को अत्यन्त व्यापक धरातल पर रूपायित किया है, किन्तु लेखक का उद्देश्य जीवन को समग्र रूप मे प्रस्तुत भर कर देना था। 'गोदान' की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी विषय-वस्तु की प्रस्तुति मे प्रेमचन्द अपने आपको अधिक तटस्थ एव सयमित रख सके है। ऐसा नही है कि जहाँ पात्रो के प्रति सहानुभूति चाहिए, वहाँ वे सहानुभूति नही दिखा सके है, वरन् वस्तुस्थिति तो यह है कि उन्होने अनावश्यक रूप मे अपने पात्रो पर अपने आपको आरोपित नही किया है। इस कारण इस उपन्यास की भूमि शुद्धत: यथार्थ की भूमि हो गई है। समस्याएँ हैं, जीवन के ऊबड-खाबड तत्त्व है, समाज के गर्हित-जुगुप्सित चित्र है, कुठाएँ हैं, निराशाएँ है और वे पक्ष है जो खोखले और आडबरमय है; किन्तु कही पर भी समस्याओ के समाधान का प्रयत्न नही है, कही पर भी 'जो है' उसके स्थान पर 'जो होना चाहिए' का आरोपण नही है। होरी अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। वह अपनी समस्त अच्छाइयो-बुराइयो सहित उपन्यास मे आद्यन्त है। उससे किसान के आदर्श का बोध न होकर यथार्थ का ही बोध होता है। अत: 'गोदान' को शुद्धत: यथार्थवादी उपन्यास कहा जा सकता है। आचार्य नददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'गोदान' मे प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी चित्रण किया है और किसान की विवशतापूर्ण स्थिति को दिखाकर उपन्यास की समाप्ति की है। 'गोदान' में समस्या के निर्णय का कोई प्रयत्न नही है, दूसरे शब्दो मे उसमे प्रेमचन्द जी की ध्येयवादिता प्रत्यक्ष होकर नही आई है। परन्तु चरित्र-निर्माण और कथानक के विकास-

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १४५।

क्रम मे प्रेमचन्दजी भारतीय किसान के आदर्श-स्वरूप को भूले नही हैं। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओ और सकटो के रहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नही कर सका है। वह अततः आदर्शवादी है।[1] आचार्यजी ने होरी को जिस रूप मे आदर्शवादी देखा है, वह वस्तुतः उस रूप मे चित्रित नही हुआ है। वह सामाजिक रूढियो, परम्पराओ, बन्धनो आदि के प्रति भीरु है। वही नही, सामान्यतः सभी किसान इस रूप मे भीरु हैं, भाग्यवादी हैं और कुछ सीमा तक पलायनवादी है। होरी का समग्र जीवन सत्-असत् का पुज है। उसमे यदि कही पर भी आदर्शवाद की झलक मिलती है तो वह मात्र उसकी भीरुता का प्रतिफल है, अन्यथा लेखक ने उसे उसकी समस्त सबलताओ और दुर्बलताओ के साथ चित्रित कर दिया है और इसी कारण वह अपने वर्ग का सफल प्रतिनिधि हो सका है। 'गोदान' मे चाहे विषय-वस्तु का प्रश्न हो, चाहे पात्रो के चरित्राकन का प्रश्न हो और चाहे विभिन्न समस्याओ की विवृति का प्रश्न हो, प्रेमचन्द ने सर्वत्र यथार्थ का ही सम्बल ग्रहण किया है। होरी सघर्षों से लडता-जूझता, लडखडाता, छल-छद्मो का आश्रय लेता, अपनी स्वभाव-सुलभ करुणा और दया के कारण और अधिक पिसता अंत मे काल-कवलित हो जाता है। उसमे कही आक्रोश नही, विद्रोह नही, किन्तु स्वभावगत दुर्बलताएँ उसके साथ है। वह रूढिवादी या परम्परावादी है। आज भी भारतीय किसान रूढिवादी और परम्परावादी ही है, किन्तु रूढि और परम्परा को आदर्श तो नही कहा जा सकता। जो लेखक रूढि और परम्परा मे ग्रस्त किसान को उसके समस्त सत्-असत् पक्षो सहित अपने पाठको के समक्ष प्रस्तुत करता है, उसे आदर्शवादी नही कह सकते और ऐसे पात्र को भी आदर्शवादी नही कह सकते।

'गोदान' मे दो कथाएँ एक-दूसरे से सग्रथित आदि से अत तक प्रवहमान है। पहली कथा का मूल विषय ग्रामीण जीवन है और दूसरी कथा का नगर-जीवन। उपन्यास मे प्रधानता ग्रामीण जीवन की कथा की है, नगर-जीवन गौण है और उपन्यास का अंत भी इसके नायक होरी की मृत्यु के साथ हो जाता है जो ग्रामीण जीवन के कथानक का प्रधान पात्र है। अधिकाश आलोचक इस बात से सहमत है कि 'गोदान' के दोनो कथानको मे अन्विति का अभाव है। दोनो कथानक एक दूसरे मे घुल-मिल नही गए है, वरन् एक-दूसरे से कृत्रिम रूप मे चिपका दिए गए है। अन्विति की दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं तो निश्चय ही हमे अन्विति का अभाव खटकता है, किन्तु यदि हम दोनो कथानको को दो ऐसी स्वतत्र इकाई के रूप मे स्वीकार कर ले जो एक-दूसरे के समानान्तर प्रवहमान हैं, एक दूसरे को प्रभावित भी करती है और दोनो का मुख्य फल

१ आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८६।

प्रधान कथा के मुख्य फल ही मे समाहित हो जाता है तो सचमुच हम इस उपन्यास के साथ अधिक न्याय कर सकते है। प्रेमचन्द केवल ग्रामीण जीवन को ही सर्वतोमुखी व्याख्या नही करना चाहते थे। वे वस्तुत: तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त विशद और सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे। भारतीय जीवन की समग्रता ग्राम-जीवन और नगर-जीवन के सम्मिलित चित्रण पर ही अवलम्बित है, किन्तु भारतीय जीवन की सबसे बडी विडम्बना यह है कि यहाँ पर नगर नगर है और गाँव गाँव है। नगर-निवासी गाँव के रहने वालो से कोसो दूर है। नगर-जीवन पाश्चात्य सभ्यता की आडम्बरमयी दीप्ति मे बिलकुल दूसरा हो गया है और ग्राम-जीवन मे माटी की जो गंध है, वह नगर-निवासी मे उबकाई भी ला सकती है। तात्पर्य यह है कि दोनो मे मूलभूत अंतर है, विशाल वैषम्य है और यही दर्शाना प्रेमचन्द का उद्देश्य है। यही कारण है कि दोनो जीवन के कथानक एक-दूसरे से मिलना चाह कर भी मिल नही पाए हैं। दोनो कथानको की कलात्मक अन्विति निस्संदेह उपन्यास की कलात्मकता की अभिवृद्धि मे सहायक सिद्ध होती, किन्तु अन्विति के अभाव मे भी यह उपन्यास औपन्यासिक कला की दृष्टि से सफल है। वस्तुत: अन्विति की बात तब खटकती है जब यह स्वीकार कर चला जाए कि प्रेमचन्द 'गोदान' मे ग्रामीण जीवन के ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु जब हम यह बात स्वीकार कर ले कि उनका उद्देश्य समग्र भारतीय जीवन को चित्रित करना था तो दोनो कथानको मे अन्विति का किंचित् अभाव खटकता नही। आचार्य वाजपेयी का तर्क है कि इस उपन्यास के नाम से ऐसा कुछ प्रतीत नही होता कि यह समग्र भारतीय जीवन के चित्रण का प्रयास है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका सम्बन्ध कृषको के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है।[1] बिना पढे 'गोदान' नाम से मेरी समझ से धार्मिक आभास अधिक हो सकता है। कोई प्रबुद्ध पाठक यह अनुमान लगा सकता है कि 'गोदान' किसी धार्मिक विधि की ओर संकेत करता है और इससे वस्तुत: यही ध्वनित होता है कि होरी जीवन-पर्यन्त एक गाय की लालसा अपने अन्तर्मन मे पोषित किए हुए था, उसकी वह लालसा सामाजिक जीवन की विषमता के कारण पूरी न हो सकी और जीवन के अंतिम क्षण मे उसी होरी के नाम से शोषक वर्ग के प्रतिनिधि को बीस आने का गोदान करा दिया गया। 'गोदान' से सामाजिक वैषम्य की व्यंजना होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'गोदान' नाम भ्रामक है। संभव है प्रेमचन्द ने अधिक विचार किए बिना उपन्यास के अंत के आधार पर 'गोदान' नाम उपयुक्त समझा हो, किन्तु इससे इस उपन्यास की केन्द्रीय विचारभूमि का अत्यन्त धूमिल परिचय प्राप्त होता है। यह प्रेमचन्द का ही दोष

---

१ आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १४६।

नही है। विश्व के बडे-बडे उपन्यासकारो ने इस प्रकार की भूले की है। तॉलस्तॉय के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शाति' की भी यही दशा है। उससे उपन्यास की केन्द्रीय विचार-भूमि का सम्यक् परिचय नही प्राप्त होता। 'युद्ध और शाति' की रूपात्मक संगति के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए पर्सी ल्यूबक ने कहा है कि उपन्यासकार का व्यापार जीवन का निर्माण करना है और इस उपन्यास मे निस्सदेह जीवन का निर्माण हुआ है, किन्तु स्पष्ट एव सगत रूप के सतोष का अभाव है। यदि स्पष्ट और सगत रूप होता तो बहुत ही अच्छा होता, तथापि रूपात्मक सगति के अभाव मे भी यह एक उत्कृष्ट उपन्यास है।[1] यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो 'गोदान' में रूपात्मक सगति का अभाव नही है और भारतीय जीवन का अत्यन्त सुन्दर निर्माण तो इसमे हुआ ही है। सबसे अच्छा उपन्यास वही होता है, जिसमे विषय-वस्तु और रूप दोनो का सामजस्य हो। 'युद्ध और शाति' मे दोनो का सामजस्य नही है, पर 'गोदान' मे किंचित् शैथिल्य के बावजूद सामजस्य है। 'युद्ध और शाति' को 'एपिक नॉवेल' के नाम से अभिहित किया गया है। वह गरिमा मे महाकाव्य की परम्परा मे आता है। उसमे युद्ध और शाति विषयक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान और विवेचन के साथ सैकडो पृष्ठ सास्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की विवृति से भरे पडे है। उसमे समानान्तर प्रवहमान दोनो कथानको मे कोई तार्किक सगति नही है और वह अपनी व्यापकता एव प्रभावोत्पादकता मे अप्रतिम है। वस्तुतः 'युद्ध और शाति' का आयोजन अत्यन्त विराट् है। इसी कारण वह कलात्मक शैथिल्य तथा रूपात्मक सगति के अभाव के होते हुए भी महाकाव्य की गरिमा से मडित है। 'गोदान' और 'युद्ध और शाति' की कोई तुलना नही है। प्रेमचन्द मे तॉलस्तॉय के समान इतना धैर्य और सभवत: इतनी प्रतिभा नही रही है कि वे तटस्थ भाव से सैकडो पृष्ठ सास्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के सम्बन्ध मे लिखते जाएँ और यह चिन्ता ही न करे कि उनके मूल कथ्य का क्या हुआ और पुन. पूरी सूक्ष्मता के साथ अपने कथ्य को पकड लें। इतने विशाल पैमाने पर किए गए बिखराव को प्रेमचन्द सँभाल नही सकते थे। 'गोदान' इस दृष्टि से व्यापकता के स्थान पर सीमित परिवृत्त का निर्माण है और इसे भरतीय राष्ट्रीय जीवन का महाकाव्य नही कहा जा सकता। किन्तु इस उपन्यास मे युगीन राष्ट्रीय और सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति व्यापक धरातल पर हुई है। आचार्य वाजपेयी के अनुसार प्रेमचन्दजी का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। वह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही इसमे प्राधान्य है। इस करुण रस प्रधान ग्राम्य चित्र को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नही कहा जा

१. क्राफ्ट ऑफ फ़िक्शन, पृष्ठ ४०।

सकता। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। लेखक का लक्ष्य केवल ग्राम्य जीवन का सर्वांगीण चित्र ही प्रस्तुत करना नही था। लेखक ने ग्राम्य जीवन के साथ ही साथ नगर जीवन को भी चित्रित किया है। इस प्रकार सामान्यतः ग्राम और नगर जीवन के मार्मिक पक्षो को उन्होने बडी सूक्ष्मता के साथ अकित किया है। एक ओर दैन्य-दु:ख, रोग-बुभुक्षा, पीडा-शोषण आदि के चित्र है तो दूसरी ओर समृद्धि-वैभव, विलासिता-लम्पटता एव वैदेशिक प्रभावो के जीवन्त चित्र है। एक ओर रूढि-परम्परा, रीति-रिवाज, खान-पान, शादी-विवाह, उत्सव-पर्व आदि के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र है तो दूसरी ओर परम्पराओ, जातीय भावनाओ, ढकोसलो-आडम्बरो के प्रति उग्र विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की मर्मस्पर्शी व्याख्या है। एक ओर अन्याय अत्याचार को सहन करने की मूक प्रवृत्ति की व्यजना है तो दूसरी ओर अन्याय-अत्याचार के प्रति असीम आक्रोश की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति है। 'गोदान' मे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक जीवन अत्यन्त व्यापक धरातल पर अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द ने जीवन के सत्-असत्, आशसनीय-विगर्हणीय, विस्तृत-संकुचित, विध्यात्मक-निषेधात्मक सभी पक्षो को कुशल चितेरे के समान चित्रित किया है। इसमे कोई सदेह नही कि राजनीतिक उथल-पथल के प्रत्यक्ष चित्र 'गोदान' मे अत्यल्प है, किन्तु राजनीतिक जीवन की प्रच्छन्न धारा 'गोदान' के आभ्यतरिक प्रवाह मे अनुस्यूत है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो यह बात निश्चित-सी हो जाती है कि युगीन राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नही है, जिसका सजीव रूपायन 'गोदान' मे न हुआ हो। कुछ लोगो को यह आपत्ति है कि इस उपन्यास मे उत्तर प्रदेश के एक गाँव की कहानी है। इसे समस्त भारतीय जीवन का प्रतिनिधि उपन्यास किस प्रकार कह सकते है? भारतवर्ष के गाँव गाँव ही है। किसी भी प्रदेश का गाँव अपनी विशेषताओ मे किसी अन्य प्रदेश के गाँव के सदृश ही है। मूल समस्याएँ एक ही है। इसी प्रकार नगर-जीवन की भी मूल समस्याएँ एक जैसी ही है। इस कारण 'गोदान' के दोनो कथानक भारतीय जीवन के प्रतिनिधि कथानक ही है। भारत मे सर्वत्र समस्याएँ एक जैसी ही है, जीवन का स्पन्दन एक जैसा है, आचार-विचार, रूढ़ि-परम्परा, जातीय और धार्मिक भावनाएँ एक जैसी ही है। अत: 'गोदान' के कथानक मे किसी विशिष्ट स्थान की गध न होकर भारत की गध है। इसी कारण इसे हम राष्ट्रीय जीवन का उपन्यास कहते है।

'गोदान' मे पात्रो का विकास बहुत ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। इस उपन्यास की सबसे बडी विशेषता यह है कि लेखक इसके पात्रो के निर्माण मे अधिक प्रयत्नशील नही है। इस कारण पात्रो पर उसने स्वय अपने को आरोपित नही किया है। उनके स्वाभाविक विकास मे किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नही हुआ है और उनका अपना व्यक्तित्व निर्मित हो सका है। 'गोदान' मे प्रेमचन्द के अन्य

उपन्यासो की तुलना मे जीवन के जीते-जागते चित्र अधिक है और उनकी अनेक समस्याएँ है, किन्तु उनके समाधान का प्रयत्न नही है, जबकि अन्य उपन्यासो मे समाधान का प्रयत्न होने के कारण उनका आदर्शवादी स्वर मुखर है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र अपने वर्ग (किसान) का प्रतिनिधि है। वह व्यक्ति नही है, वरन् वर्ग का प्रतीक है। उसके माध्यम से कृषक-वर्ग के दु ख-सुख, आशा-आकाक्षा, सफलता-विफलता आदि की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। होरी भारतीय किसान का जीता-जागता चित्र है। उसमे गुण भी है, दुर्गुण भी। पारिवारिक जीवन मे उसकी आस्था है। वह अपने भाइयो से प्रेम करता है, उनके दु ख-सुख मे सम्मिलित होता है। उनके द्वारा किए गए अत्याचार को मूक भाव से सहन कर लेता है, किन्तु उनकी मान-मर्यादा को अपनी मान-मर्यादा समझता है और प्राण-पण से उनकी रक्षा करता है। उसे ईश्वर से भय है, किन्तु सबमे बडा भय बिरादरी का है जो अततोगत्वा उसे तोड डालती है। रीति रिवाज, आचार-विचार, रूढि-परम्परा सब को स्वीकार कर लेता है। किसी भी के प्रति रचमात्र विद्रोह-भाव नही है। सब कुछ सिर झुकाकर स्वीकार कर लेता है और इन सबका परिणाम यह होता है कि उसका पारिवारिक जीवन विश्रृखलित हो जाता है, उसे अपनी बेटियो का विवाह ऐसे ढग से करना पडता है, जैसा उसकी अन्तरात्मा कभी भी स्वीकार न कर पाती। वह 'महतो' से मजदूर हो जाता है। टूट जाता है, बिखर जाता है, उसका शरीर साथ नही दे पाता और जीवन-सघर्ष का एक थपेडा उसके प्राण-पखेरू को झकझोर कर उडा देता है। यह वस्तुतः उसकी ही करुण कहानी नही है, वरन् यह भारतीय किसान की कहानी है।

'गोदान' मे दूसरी ओर झिगुरी सिंह, पडित दातादीन, लाला पटेश्वरी, दुलारी सहुआइन जैसे पात्र है जो नियति के बन्धन मे बँधे, भविष्य के प्रति निराश किसानो का अनेक प्रकार से शोषण करते है। कभी-कभी आचार-विचार के ठेकेदार भी बन जाते है। वस्तुतः ग्रामीण जीवन मे वैयक्तिक आचार की तुलना मे सामाजिक आचार की ही प्रधानता है। वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक विधि-नियमो का अतिक्रम करते हुए भी वे सामाजिक स्तर पर अपने-आपको पाक-साफ सिद्ध करने का ढोग रचते है। उक्त पात्र वैयक्तिक स्तर पर आचार-विचार मे निम्न कोटि के है, किन्तु वे ही सामाजिक स्तर पर होरी को जो दड देते है, वह अमानवीय प्रतीत होता है। ग्राम्य कथानक मे ऐसे भी पात्र है जो सामाजिक बन्धन, जातीय मर्यादा को ज्यो का त्यो स्वीकार नही कर पाते। उनकी दृष्टि मे रूढि-परम्परा, जातीय बन्धन आदि महत्त्वपूर्ण नही हैं। वे मानवीय भाव को तरजीह देते है। वस्तुतः उनमे विद्रोह का स्वर मुखर है। गोबर, मातादीन, सिलिया, झुनिया मे विद्रोह का यह स्वर अधिक

मुखर है । यातनाओ के बावजूद इनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति अधिक गतिशील है । यह दूसरी बात है कि अर्थ-तत्र अन्ततः उन्हे परास्त कर देता है, आर्थिक विवशता उन्हे दबोच लेती है । नारी पात्रो मे धनिया नारी पात्र अधिक शक्तिशाली है । होरी हर बात को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेता है, किन्तु धनिया मे अन्याय सहन करने की शक्ति नही है । वह विद्रोह कर बैठती है, भले ही उसे अपने विद्रोह का बहुत बडा मूल्य क्यो न चुकाना पडे ।

राय साहब मध्यवर्ती पात्र है । ग्रामीण और नगर-जीवन के कथानक की कडी वे ही है । प्रेमचन्द ने उनके चरित्र के समस्त पक्षो को अत्यन्त सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है । नागर पात्रो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र मालती और मेहता है । मेहता के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपनी राष्ट्रीय और सास्कृतिक चेतना को मुखर किया है । उनकी चारित्रिक विशेषताओ को दिखाते हुए उन्होने उनकी मानवीय सवेदना को अत्यन्त सशक्त प्रणाली से निरूपित किया है । पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति की झझा के झोको मे मालती को बहाकर अत मे उसमे भारतीय सस्कृति के प्रति अ ाध आस्था उत्पन्न कर उन्होने उसके माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति पर भारतीय सभ्यता और सस्कृति की विजय दिखाई है । नागर जीवन मे उन्होंने विलासिता का अत्यन्त स्पष्ट चित्र अकित किया है । दोनो जीवन के वैषम्य की ओर इगित करना उनका उद्देश्य था । एक बात अवश्य है । ग्रामीण जीवन के पात्रो मे सघर्ष-निरत होते हुए भी जीवन का स्पन्दन है, किन्तु नगर-जीवन के पात्रो मे जीवन का वैसा स्पन्दन, जीवन की वैसी ताजगी नही है ।

'गोदान' सघर्ष-निरत मानव के जीवन का विशद विवेचन है । इसमे लेखक ने शोषक और शोषित के जीवन और व्यवहार के कटु-परुष, मर्मस्पर्शी, अत्यन्त करुण एव अत्यन्त निष्करुण पक्षो को तटस्थ भाव से उद्घाटित कर दिया है । कुछ लोगो के विचार से 'गोदान' मे प्रेमचन्द ने मार्क्सीय सिद्धात का अनुसरण किया है और उन्ही के आधार पर जीवन को व्याख्यायित किया है । किन्तु वस्तु-स्थिति यह नही है । प्रेमचन्द को मार्क्सीय विचार-धारा से अवगति थी, पर उसके आधार पर उन्होने 'गोदान' का निर्माण नही किया है । जीवन के प्रति उनकी विशेष दृष्टि थी । उसी दृष्टि को उन्होने अपने इस उपन्यास के माध्यम से अत्यन्त सशक्त रूप मे व्याख्यायित किया है । वे स्वय शोषित वर्ग के रहे है और जीवन पर्यन्त उनका शोषण होता रहा है । इस स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि शोषित वर्ग के प्रति उनकी सहज सहानुभूति हो जाए । उनकी यह सहानुभूति उनकी तटस्थता के बावजूद उपन्यास मे आद्यन्त अतः सलिला के समान प्रवहमान है । वस्तुतः होरी का जीवन कुछ सीमा तक लेखक के जीवन की आशा-आकाक्षा, सफलता-विफलता, निराशा-कुठा का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत

करता है। सामजस्यवादी लेखक भी तो होरी के समान ही निरन्तर जीवन के भीषण कालकूट का पान करता असमय मे ही काल-कवलित हो गया था।

'गोदान' की कहानी अधूरी कहानी है। दोनो कहानियाँ अधूरी हैं, किन्तु इसी मे तो इस उपन्यास की पूर्णता है। भाषा बहुत ही सशक्त है। 'गोदान' की भाषा को देखने से यह अनुभव अनायास ही होने लगता है कि प्रेमचन्द उन रत्न-पारखो के समान है, जिसे रत्न की प्रत्येक छटा, आभा और विच्छित्ति का पूरा-पूरा परिचय है। प्रेमचन्द शब्द-विद्या के अद्वितीय पारखी है। वे प्रत्येक शब्द की छटा और विच्छित्ति को समझते है तथा पूरी कुशलता से शब्दो का प्रयोग करते है। हिन्दी मे ऐसे सशक्त गद्य-लेखक विरल है। 'गोदान' की भाषा को देखने से ऐसा कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा प्रेमचन्द को पाकर गौरवान्वित हो उठी है।

'गोदान' 'दोष-रहित दूषण-सहित' भारतीय जन-जीवन का मर्मस्पर्शी एवं करुण आख्यान है। काल के थपेडे इसकी महिमा को किसी प्रकार की आँच नही पहुँचा सकते।

नदी के द्वीप

अज्ञेयजी हिन्दी के उन उपन्यासकारो मे से है, जिन्होने लिखे तो थोडे ही उपन्यास है, किन्तु अपनी सतत् प्रयोगात्मक वृत्ति के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य को पुष्ट और समृद्ध किया है। अज्ञेयजी ने 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' तीन उपन्यास लिखे है और तीनो मे उनकी नव प्रयोग की वृत्ति परिलक्षित होती है। शैल्पिक दृष्टि से देखा जाय तो 'नदी के द्वीप' अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ रचना है। 'नदी के द्वीप' मे अभिव्यजना पक्ष अपनी आकर्षक परिष्कृति के साथ विशेष प्रबल हो गया है। अतएव इस उपन्यास की शिल्प-प्रधानता के सम्बन्ध मे मतैक्य है।[1] इस उपन्यास का कथा-ततु अत्यन्त दुर्बल है और जहाँ तक जीवन-दर्शन और सामाजिक जीवन का पक्ष है, वह पूर्णतया तिरस्कृत है। लेखक ने व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को रूपायित किया है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कटघरे मे बद विचित्र और अजनबी प्राणी-सा प्रतीत होता है तथा शेष ससार के साथ रागात्मक सम्बन्ध यदि स्थापित भी करता है तो अपने निजी वैयक्तिक स्वार्थ-भाव से परिचालित होकर। जहाँ तक कलात्मक परिणति का सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट रूप मे कही जा सकती है कि इस उपन्यास की कलात्मक परिणति निर्विवाद सिद्ध है।

'नदी के द्वीप' की मूल समस्या प्रेम, यौनवृत्ति और विवाह है। लेखक का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। इस कारण उसने सकुचित सीमा मे बँधकर उक्त समस्याओ को अपने पात्रो के माध्यम से विवेचित किया है। सारा विवेचन व्यक्ति-सापेक्ष है, समाज-सापेक्ष नही। प्रेम के सम्बन्ध मे 'नदी के द्वीप' के पात्रो मे कुछ विशेष प्रकार के विचार है। हेमेन्द्र प्रेम को अत्यन्त विकृत अवस्था मे देखता है और वह समलैंगिक वृत्ति को अधिक महत्त्व देता है। वस्तुतः उसने रेखा से विवाह ही इसी उद्देश्य से किया था कि रेखा और हेमेन्द्र के प्रिय पात्र की आकृति मे अद्भुत साम्य था। रेखा का

---

१. आधुनिक समीक्षा, डॉ० देवराज, पृष्ठ १३८।

प्रेम-भाव दूसरे धरातल पर अवस्थित है। उसमे सौदर्य की आँच है, अतः विशेष प्रकार की दीप्ति है। विकृत पति अपने मित्रो को उसके पास छोड चला जाता था, किन्तु सूर्यमणि के समान अपनी दीप्ति विकीरित करती हुई रेखा वासना के तिमिर से आच्छन्न नही हुई। चद्रमाधव के सभी प्रकार के प्रयास उसे विजित करने मे विफल रहे, जबकि किसी प्रतिदान के भाव के बिना उसने भुवन को अपने आपको समर्पित कर दिया। आदान का कोई भाव नही, आगत की कोई चिन्ता नही और उसने उन्मुक्त भाव से भुवन के प्रति अपने द्रवणशील प्रेम को ढरका दिया और अपने आपको परितुष्ट (फुलफिल्ड) अनुभूत किया। वह कभी श्रीमती हेमेन्द्र थी, आगे चलकर श्रीमती रमेशचन्द्र भी हो गई, किन्तु यदि वह किसी को प्यार कर सकी, या करती है या करेगी तो वह केवल भुवन है। भुवन को तिरस्कार और अपमान से बचाने के लिए ही उसने औषधि लेकर अपने बीनकार-सर्जन को भी नष्ट कर दिया। इस प्रकार हम देख सकते है कि रेखा की प्रेम-भावना आदर्शवाद की भावना से अनुप्राणित है जो उसकी व्यक्तिवादी एवं आत्म-परिबद्ध चेतना के कारण धूमिल पड गई है। गौरा का प्रेम विशुद्ध आदर्श प्रेम है। भुवन के प्रति उसका श्रद्धा-भाव धीरे-धीरे विकसित होता हुआ साध्य गगन के सदृश उसके हृदय मे, सहसा असख्य तारक के सदृश देदीप्यमान प्रेम-भाव मे परिणत हो गया। रेखा की तुलना मे गौरा की स्थिति अधिक दृढ है। उसका व्यक्तित्व गतिशील है, किन्तु परिस्थितियो की सानुकूलता के कारण उसका प्रेम स्थिर और विकासशील है। वह 'भुवन ही मे जीती है' इस कारण उसका प्रेम भुवन के प्रति प्रगाढ ही होता गया है। रेखा-भुवन के प्रेम-सम्बन्ध को जानकर भी वह अपने मन मे भुवन के प्रति किसी प्रकार का विकार नही ले आ पाती। पुरुष पात्रो मे चद्रमाधव के लिए प्रेम वासना का पर्याय है और भुवन का प्रेम द्विधा विभक्त होकर कुछ विशेष रूप मे प्रस्फुटित होता है। उसके अतर्मन मे गौरा के प्रति सहज आकर्षण है, किन्तु गौरा के सलज्ज भाव उसे अपनी ओर सरलता से आकृष्ट नही कर पाते, जबकि रेखा का मादक सौदर्य, उसकी व्रीडा के पारदर्शी आवरण मे लिपटी आकर्षक दीप्तिमयी भावना भुवन को अपने सस्मित इगित से अपनी ओर खीच ही लेती है और नारी-सौदर्य, दीप्ति एव प्रगल्भता की सुकोमल, लचीली डोर मे बँधा वह रेखा की ओर खिचता ही गया है। रेखा के प्रति भुवन का जो प्रेम है, वह वस्तुतः प्रेम नही है, वरन् सौदर्य का मधुर आकर्षण है, वासना का सम्मोहन है, जबकि गौरा के प्रति उसका सहज आकर्षण प्रेम का नामातर है। रेखा की ओर अपने रुझान एवं वासनात्मक सम्बन्ध के कारण उसके अचेतन मे एक अपराध-भावना घर कर जाती है जो रेखा के भ्रूण-हत्या से आवृत हो और भी विकट रूप धारण कर लेती है। इसी कारण वह गौरा से दूर-दूर भागता है। गौरा के सामने अपराध-स्वीकृति के अनन्तर उसकी अपराध-भावना

का गुँजलक छूँट जाता है और फलतः गौरा के प्रति उसका सहज प्रेम निर्बाध भाव से प्रभावित हो उठता है। 'नदी के द्वीप' मे दोनो नारी-पात्र प्रेम की दृष्टि स अपना औदात्य दिखा सके हैं, किन्तु दोनो की मूलभूत दृष्टियो मे महान् अन्तर है।

यौन वृत्ति को अज्ञेयजी ने अपने इस उपन्यास मे विशेष रूप से व्यजित किया है। उपन्यास के सभी पात्र व्यक्तिवादी है। इस कारण लेखक के यौन-वृत्ति के स्वच्छद, उच्छृखल पक्ष को भी उद्घाटित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सका है। इस उपन्यास मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण (?) बात है समलैंगिक यौन वृत्ति की साकेतिक विवृति। लेखक ने सकेत से हेमेन्द्र की विकृत यौन वृत्ति की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। उन्ही विकृति के कारण हेमेन्द्र और रेखा का वैवाहिक जीवन कटु-तिक्त हो उठा। हेमेन्द्र रेखा मे जो खोजना चाहता था, उसे वह उसमे प्राप्त नही कर सकता था। नौकुछिया ताल के सुरम्य वातावरण मे भुवन और रेखा एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आ गए।

'भुवन ने बुरूस का गुच्छा उसकी कबरी मे खोस दिया। वह इतना बडा था कि आधी कबरी को और कान तक बालो को ढक रहा था : उसे ठीक से अटकाने के लिए भुवन कुछ आगे झुका कि एक-आध काँटा खीचकर कबरी कुछ ढीली करे : सहसा रेखा न दोनो बाहे उठा कर उसका सिर घेर लिया, कन्धे के ऊपर से उसे निकट खीचकर उसका मुँह चूम लिया—बडे हलके स्पर्श से लेकिन ओठो पर भरपूर।'

'भुवन भी कुछ चौक गया, वह भी चौककर छिटककर खडी हो गई, दोनो ने स्थिर और जैसे असम्पृक्त दृष्टि से एक-दूसरे को देखा, फिर एक साथ ही दोनो न हाथ बढाकर एक-दूसरे को खीच लिया, प्रगाढ आलिंगन मे ले लिया और चूम लिया—एक सुलगता हुआ, सम्मोहन, अस्तित्व-निरपेक्ष, तदाकार चुम्बन।'

लेखक ने यहाँ पर युगल-प्रणयी की स्वच्छद यौन-वृत्ति का उन्मुक्त भाव से चित्रण किया है। एक-दूसरे के भाव मे एकाएक ज्वार आ गया है, किन्तु रेखा आविष्ट है और भुवन किंचित् सयत। भावाविष्ट रेखा ने भुवन से कहा—'मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझे लो।' किन्तु भुवन का सारा सस्कार उसकी स्वच्छद प्रणय-केलि मे प्रतिबन्धक सिद्ध हुआ। उसका सारा शरीर काँपने लगा और वह रेखा की जाँघ मे अपना सिर गडाकर सिसकने लगा और अस्पष्ट शब्दो मे कहने लगा—'यह इन्कार नही है, रेखा; प्रत्याख्यान नही है·····यह सब बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर···वह···वह सौन्दर्य की चरम अनुभूति होती है—होनी चाहिए—मै मानता हूँ···इसीलिए डर लगता है, अगर वह—अगर वैसा न हुआ—जो सुन्दर है उसे मिटाना नही चाहिए····तुमने जो दिया है, उसके सौंदर्य को मैं मिटाना नही चाहता, रेखा, जोखम मे नही डालना चाहता। वह बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर······'

नारी की स्वाभाविक यौन-वृत्ति पुरुष की आँच में पिघल गई और उसने अपना सब कुछ पुरुष पर निछावर कर दिया। वस्तुतः रेखा ने उच्छल भाव से अपने आपको भुवन को समर्पित कर दिया, किन्तु अपने सहज सकोचशील स्वभाव एव अपने सस्कारो के कारण भुवन रेखा के प्रणय का प्रतिदान न दे सका। यहाँ पर लेखक ने दोनो की यौन-वृत्ति को सयत भाव से अकित किया है किन्तु तुलियन झील के रम्य-स्निग्ध वातावरण मे लेखक संयत भाव नही रख सका है और दोनो के क्रिया-कलाप को इस रूप मे वर्णित किया है कि दोनो की वृत्तियो मे उच्छृखलता आ गई है और सारा वर्णन अतिशय शृगारिक हो उठा है—उदाहरण के लिए देखिए—

'भुवन ने कम्बल खीचकर कन्धे ढँक दिए। कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा।' 'भुवन को उसने इतनी जोर से भीच लिया कि उन छोटे-छोटे हिम-पिडो की शीतलता भुवन की छाती मे चुभने लगी।'

'सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कप हाथो से रेखा के गले से बटन खोले और चाँदनी मे उभर आए उसके कुचो के बीच की छाया भरी जगह को चूम लिया फिर अवश भाव से उसकी ग्रीवा को, कन्धो को, पलको को, ओठो को, कुचो को......और फिर उसे अपने निकट खीचकर ढँक लिया।'

'और उसने बडे जोर से रेखा के ओठ चूम लिए, वह जागी और उसकी ओर उमड आई और वह उमडना फिर एक आप्लवनकारी लहर हो गया।'

लेखक ने उक्त स्थलो पर रेखा और भुवन की यौन वृत्ति का खुलकर वर्णन किया है। उसका साकेतिक रूप भी प्रस्तुत किया जा सकता था, किन्तु उन्मुक्त भाव से वर्णन कर उसने उक्त स्थलो को उत्तेजक-सा बना दिया है। तथापि यह बात निश्चित-सी है कि उक्त वर्णनो मे अश्लीलता नही है, जैसा कि बहुत से आलोचको ने आरोप लगाया है।

चद्रमाधव की यौन-वृत्ति अधिक विकृत है। वह रेखा और गौरा को पाने की कोशिश करता है, किन्तु वह किसी को भी अपनी ओर आकृष्ट नही कर सका। अपनी पत्नी कौशल्या के प्रति उसके मन मे किसी प्रकार का आकर्षण नही है, क्योकि पत्नी मे वह प्रेयसी का रूप पाना चाहता है, पर वह रूप पा नही सकता। इसी कारण उसके प्रति उसके मन मे घृणा-भाव है। यह दूसरी बात है कि वासना से अभिभूत होकर वह उसके ही निकट जाता है। उसकी वासना का एक चित्र देखिए—

'चद्र ने उसकी काँपती-सी देह को खीचकर चारपाई पर गिरा लिया और एक क्रूर चुम्बन से उसके ओठ कुचल दिए—अँधेरे मे कौशल्या की देह का कम्पन सहसा स्थिर हो आया—उन ओठो मे वासना थी, सूखे गर्म ओठ, पुरुष के ओठ पर प्रेमी के नही, प्यार नही, बीते हुए स्मरणाग्रित चुम्बनो की गरम-गरम राख...'

इसमे कोई सदेह नही कि 'नदी के द्वीप' मे यौन-वृत्ति का सयत वर्णन नही है। कही-कही लेखक ने अपने अनुशासित, सयमित रूप का परित्याग कर दिया है और यौनि-वृत्ति के उच्छृखल वर्णन मे, अनजाने ही सही, रस लेने लगा है।

व्यक्तिवादी उपन्यास होने के कारण वैवाहिक सस्था के प्रति एक विशेष प्रकार की दृष्टि इसमे मिलती है। रेखा का वैवाहिक जीवन अभिशप्त ही सिद्ध हुआ। इस कारण उसकी दृष्टि मे विवाह का कुछ दूसरा मूल्य है। भुवन के प्रति आकृष्ट होकर उसने भुवन को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, किन्तु बीनकार-सर्जन की सामाजिक सुरक्षा के लिए जब भुवन ने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, तो वह उस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सकी। ऐसा नही था कि भुवन से प्रेम नही करती थी, वरन् वह उसे बधन मे नही डालना चाहती थी। उसने स्वय जो विवाह कर लिया, उसमे सामाजिक सुरक्षा की भावना नही थी, वरन् वह भुवन और गौरा के मिलने का मार्ग प्रशस्त करना चाहती थी। व्यक्तिगत रूप मे वह विवाह पसन्द नही करती थी, क्योकि उसकी दृष्टि मे विवाह प्रेम के गले को घोट देता है। भुवन और गौरा सामाजिक सस्कार को अस्वीकार नही कर सके है। उन दोनो की दृष्टि मे वैवाहिक सस्था उपादेय है, पर वरण की स्वतत्रता वे वाछनीय समझते है। चद्रमाधव अपनी विवाहिता पत्नी को स्वीकार नही कर पाता। वह अपने वैवाहिक जीवन के दायित्व से भागता है। अपनी सतानो को अपना नही पाता। वह अपनी पत्नी मे वह नही पाता जो वह पाना चाहता है। इसी कारण वह एक अभिनेत्री से विवाह कर लेता है। व्यक्तिवादी दृष्टि के कारण वह सामाजिक दायित्व से पलायन कर जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'नदी के द्वीप' मे प्रेम, यौन-वृत्तिऔर विवाह को पूर्णतया व्यक्तिवादी स्तर पर चित्रित किया गया है। उक्त समस्त वृत्तियो मे सयम और अनुशासन का अभाव परिलक्षित होता है।

उक्त समस्याएँ पूर्णत: वैयक्तिक समस्याएँ है, समाज के साथ इनका कोई सम्बन्ध नही है। उपन्यास के चारो पात्र उन्हे व्यक्तिगत स्तर पर ही ग्रहण करते हैं, यदि उनमे कही सामाजिक भावना आई है तो उनके सस्कार के कारण, अन्यथा वे सब अपने व्यक्तिगत स्वार्थ मे निमग्न है। 'नदी के द्वीप' की कथावस्तु शृंगार-प्रधान है। कथा-वस्तु का स्वरूप बहुत ही सक्षिप्त है। पति-परित्यक्ता रेखा चद्रमाधव के सम्पर्क मे आती है और भुवन से मिलकर उसकी ओर आकृष्ट होती है और अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उसे अभिभूत कर लेती है। यह जानकर कि भुवन के मन मे गौरा के प्रति अत्यन्त मृदुल भाव हैं, वह भुवन के जीवन से निकल जाती है और अत मे डॉ० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेती है। कथा-सूत्र के विकास से ऐसा प्रतीत होता है कि भुवन और गौरा भी एक-दूसरे से मिल गए होंगे। चद्रमाधव न तो रेखा को और

न तो गौरा को अपनी ओर आकृष्ट कर पाता है। वह अपने पारिवारिक दायित्व को छोड एक अभिनेत्री से विवाह कर लेता है। इतनी-सी कथा-वस्तु को लेखक ने अपनी अपूर्व प्रतिभा के कारण अत्यन्त प्राणवान् बना दिया है। चार व्यक्तियो की जीवन-चर्या, उनके मानसिक भाव, आचार-विचार को धीरे-धीरे उसने व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाकर कथा-सूत्र को बहुत ही स्वाभाविक ढग से विकसित किया है। पूरे उपन्यास की योजना इस प्रकार हुई है कि प्रत्येक पात्र को दो-दो अध्याय अपने भाव-विचार व्यक्त करने के लिए दिए गए है और अतराल मे उन सबकी औचित्यपूर्ण अन्विति पत्रो के माध्यम से स्थापित की गई है। कथा-वस्तु सुनियोजित है। इस कारण उसके क्रमिक विकास मे कही भी अस्वाभाविकता दृष्टिगत नही होती। हाँ, इतना अवश्य है कि उपन्यास की भूमिका अत्यन्त सीमित-परिबद्ध स्तर की है। समस्या व्यक्तिगत स्तर की है और समाधान भी व्यक्तिगत स्तर का है। ऐसा क्यो हुआ ? यहाँ इस प्रकार का कोई प्रश्न अयौक्तिक है। ऐसा हुआ, यह यथार्थ है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना मन-ससार है। उसी मे वह जीता है और मरता है तथा उसका मनः ससार दूसरे के लिए अज्ञेय है।

पात्रो के निर्माण मे लेखक को कोई उल्लेखनीय सफलता नही प्राप्त हुई है। 'नदी के द्वीप' मे ऐसा कोई पात्र नही है जो पाठको पर अपना स्थायी प्रभाव छोड सके। रेखा के निर्माण मे लेखक ने स्यात् अधिक सावधानी दिखाई है, किन्तु उसके अतर्मन के साथ उसका व्यक्तित्व भी टूटा हुआ ही रह गया है, उसके विचारो मे अर्तविरोध है। लेखक ने उसे बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का यत्न किया है, किन्तु कही पर भी उसकी बौद्धिकता ऐसी नही है जो पाठको को छू जाए या अभिभूत कर ले। वर्तमान मे जीना उसका जीवन-दर्शन है। क्षण की अनुभूति ही को वह यथार्थ अनुभूति मानती है, किन्तु सबसे बडी विडम्बना तो यह है कि वह क्षणो की परम्परा मे जीती है और भूत के आधार पर आगत के सम्बन्ध मे निर्णय लेती है। क्षणजीवी के लिए 'मै प्यार करती हूँ' यही तक अलम् है, 'प्यार करूँगी' यह उसका विषय नही है, किन्तु भुवन के सम्बन्ध मे रेखा ऐसा ही करती है। रेखा मे बौद्धिकता है, सवेदना है, दृढता है, किन्तु ऐसा कुछ नही है जो 'शेष प्रश्न' के कमल के समान उसे पाठको के हृदय मे बैठा दे।

भुवन को लेखक ने बौद्धिक और सवेदनशील सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर उसका बौद्धिकता पृष्ठभूमि मे ही कॉस्मिक रश्मियो के साथ रह गई है और उसका सवेदनशील रूप या और यथार्थ रूप मे उसका अति भावुक रूप पाठको के सामने अधिक स्पष्ट होकर आया है। रेखा के प्रथम दर्शन पर ही वह उसके व्यक्तित्व और उसकी वाकपटुता से अभिभूत हो जाता है। हम कहना चाहे तो कह सकते हैं वह उसको सौदर्य-

छटा से विमुग्ध हो खिंच उठता है और निरतर खिंचता जाता है। इससे बढकर और कैसी भावुकता हो सकती है कि वह रेखा को स्टेशन पर छोड़ने गया था, किन्तु उसके इंगित मात्र पर उसके साथ-साथ नैनीताल चला गया। क्या यह उसके व्यक्तित्व का दुर्बल पक्ष नही है? जब रेखा ने उन्मुक्त भाव से भुवन को अपने आपको समर्पित कर दिया, उस समय भुवन का रुदन बहुत ही बचकाना प्रतीत होता है। 'सौदर्य को मै मिटाना नही चाहता' आदि उसकी उक्तियो मे ऐसा कोई अर्थ-गाभीर्य नही है, जिससे उसके रुदन का कोई समाधान प्राप्त हो सके, जबकि तुलियन झील के रम्य वातावरण मे उसी भुवन को रेखा का उन्मुक्त समर्पण एव रेखा का मृदु साहचर्य आह्लादकारी, शीतल और शामक प्रतीत हुआ। क्या वहाँ पर सौदर्य के मिटाने का प्रश्न उत्थित नही हुआ? इसमे कोई संदेह नही कि भुवन रेखा की तुलना मे अधिक सहज है, सकोचशील है, किन्तु क्षण की अनुभूति मे उसका भी विश्वास है जो बीच ही मे विशृखलित हो जाता है। रेखा मे आरोपित अपने तत्व को सामाजिक सुरक्षा एव मान्यता देने के अभिप्राय से उसने रेखा के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा था, किन्तु रेखा उसे बधन मे बाँधना नही चाहती थी। इसी कारण मर्मतुद वेदना सहनकर उसने भ्रूण-पात करा दिया और यह भ्रूण-पात भुवन के अंतर्मन को बहुत गहराई तक छू गया। उसे ऐसा प्रतिभासित होने लगा था कि मानो आग की लपटो मे जलते हुए बच्चो को वह देखा करता था। यहाँ पर भी बौद्धिक स्तर की तुलना मे उसका सवेदन ही अधिक जागरुक है। रेखा के प्रति उसमे जो आकर्षण जागरित हुआ, उसके फलस्वरूप उसके मन मे गौरा के प्रति किंचित् औदासीन्य और उससे अधिक स्वअपराधजन्य सकोच भाव उत्पन्न हो गया। यही कारण है कि वह गौरा से कतराने लगा। यह वस्तुत: उसका सहज मानवीय रूप है। मनोविश्लेषक के रूप मे लेखक ने गौरा के सामने उसकी अपराध-स्वीकृति कराकर उसकी मानसिक ग्रथि को निवारित कर दिया और फलत: वह गौरा की ओर सवेग प्रधावित हो उठा। वस्तुत: सवेदनशील भुवन रेखा और गौरा चक्र-दोल पर ही दोलायमान होता रहा। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली नही बन पाया है।

चद्रमाधव मे औद्धत्य है जो आरभ से ही लक्षित हो जाता है। वह अपनी पत्नी कौशल्या को मन से नही अपना पाता, क्योकि वह आधुनिक प्रेयसी के समान मुक्त व्यवहार, पॉव मे लज्जा की बेडी होने के कारण नही कर सकती थी। वह रेखा की ओर उसके सौदर्य, मुक्त व्यवहार और वाक् पटुता के कारण उन्मुख होता है और उस ओर से निराश होकर गौरा के निकट पहुँचने का धृष्ट प्रयास करता है। रेखा और भुवन के सम्बन्धो का दुरुपयोग कर उसके मन में भुवन के प्रति वितृष्णा जाग्रत करने की असफल चेष्टा करता है और अत मे कम्युनिस्ट होकर एक अभिनेत्री से विवाह कर

लेता है तथा अपने पारिवारिक दायित्व से पलायन कर जाता है। चन्द्रमाधव का चारित्रिक विकास लेखक स्वाभाविक रूप मे दिखा सका है। उसकी वासना, यौन-वृत्ति, ईर्ष्या आदि मानव-सुलभ वृत्तियो को लेखक ने सहज रूप मे चित्रित किया है, किन्तु व्यक्तिवादी के स्थान पर उसे कम्युनिस्ट के रूप मे दिखाया जाना किसी प्रकार का औचित्य नही रखता, क्योकि उसमे वैचारिक धरातल पर भी साम्यवादी विचार-सरणि की कोई प्रतिध्वनि सुनाई नही पडती।

'नदी के द्वीप' मे मानवीय धरातल पर सर्वोत्कृष्ट पात्र गौरा है। लज्जाशील विनयशील, मृदु, दृढ निश्चयी, मितभाषी और अपने विचार तथा व्यवहार मे स्पष्ट। उसके मन मे भुवन के प्रति आरभ मे श्रद्धा जनित आकर्षण उत्पन्न होता है और वही धीरे-धीरे विकसित होकर सहसा प्रणय का रूप धारण कर लेता है। प्रणय का आलोक छिपाए नही छिपता, किन्तु वह अपने प्रणय को भुवन से सायास छिपाती है। ऐसा नही है कि भुवन के मन मे उसके प्रति कम आकर्षण है, किन्तु लज्जा से अवगुन्ठित छुई-मुई गौरा को देखकर सहज सकोचशील भुवन अपनी भावना को हृदय के कोने मे ही सहलाकार सुला देता है। यदि उसे गौरा के महिमा-मडित प्रणय का ज्ञान होता तो वह सभवत: रेखा की ओर न झुकता। वह भावनाशील अवश्य था, किन्तु कामुक नही था और गोरा को अपने भुवन दा पर अपने से अधिक विश्वास था, क्योकि उसकी दृष्टि मे भुवन दा अपने गौरव और अपनी महिमा के सम्बल से वहाँ अवस्थित थे, जहाँ साधारणत: किसी की दृष्टि नही पहुँच सकती थी और वह निर्भरानन्द मे मग्न खुल कर, छककर उसकी उपासना कर सकती थी। उसे यह ज्ञान कहाँ था कि रेखा जैसी नारी के शामक सान्निध्य मे उसका चद्रकात द्रवित हो जाएगा। गौरा को रेखा और भुवन के सम्बन्धो का ज्ञान हुआ, किन्तु भुवन के प्रति उसके मन मे किंचित् भी विकार उत्पन्न नही हुआ। अपने प्रति भुवन की उदासीनता उसके लिए असह्य अवश्य थी, फिर भी मूक भाव से अतर्मुखी होकर सगीत मे अपने मन को रमाकर वह सहन करती रही। भुवन अपनी अपराध-भावना के कारण उससे दूर भागता रहा और वह थी अपने आराध्य को कसकर अपने पास खीचती रही। भुवन की अपराध-स्वीकृति से भी उसे किसी प्रकार की ग्लानि नही हुई। रेखा और भुवन के इतने निकट के सम्बन्ध ने भी उसके मन मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही होने दिया। आखिर वह भुवन मे जो जीती थी। इतना उदार और महनीय चरित्र। अपने आराध्य के स्खलन को उसने सहज भाव से ग्रहण कर लिया और उसे अपनाने के लिए, उसे सात्वना देने के लिए उसके ऊपर झुककर अपनी केश-कादम्बिनी से उसके मुख-मण्डल को आवृत कर लिया और उसे अपनाने के लिए सतत प्रयत्न करती रही। 'नदी के द्वीप' में गौरा का पात्र अत्यन्त उज्ज्वल, महिमा मडित और अकु ठित है।

शुद्धतः व्यक्तिवादी उपन्यास होने के कारण 'नदी के द्वीप' मे सामान्य जीवन और जागतिक समस्याओ की घोर उपेक्षा है। इस उपन्यास का प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी, व्यक्तिगत समस्याओ से इस प्रकार आक्रान्त है कि उसे दूसरे की ओर ध्यान देने का अवसर कम प्राप्त होता है। रेखा की क्षणानुभूति से अस्तित्ववादी विचारधारा का सकेत मिलता है, किन्तु वह अपने वर्तमान या क्षण की अनुभूति मे अधिक समय तक रह नही पाती और उसकी क्षण की अनुभूति, क्षणो की परम्परा मे सक्रमित हो जाती है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु का काल द्वितीय विश्व महायुद्ध का काल है। उस समय विश्व के सामने विषम विभीषिका के दृश्य विद्यमान थे, किन्तु इस उपन्यास के पात्रो के अतर्मन मे यह विभीषिका अभिवर्द्धिनी घटना कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नही कर पाती। चंद्रमाधव वैचारिक धरातल पर इसमे प्रभावित हुआ था। इसी कारण उसने गौरा की सगीत-साधना पर प्रश्न किया था, किन्तु गौरा का उत्तर नितात व्यक्तिवादी स्तर का था। उक्त विश्व-युद्ध के अवसर पर भुवन ब्रिटिश सरकार को साहाय्य अर्पित करने के उद्देश्य से फ्रट पर गया अवश्य था, किन्तु उसका उद्देश्य न तो सरकार को सहायता अर्पित करना था, न तो वैज्ञानिक अनुसधान के उत्साह का प्रदर्शन था और न तो भारतीय स्वाधीनता के लिए किसी प्रकार का कार्य-सम्पादन था, अपितु वह अपने आपमे, अपने मानसिक सघर्ष से पलायनोन्मुख होकर युद्ध की विस्फोटक स्थिति मे कूद पडा था। जिस कालावधि का चित्रण इस उपन्यास मे हुआ है, वह अवधि भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के चरम उत्कर्ष की अवधि है, किन्तु वैयक्तिक स्वातत्र्य के अधिवक्ता चारो पात्रो के मन मे कही पर भी राष्ट्रीय और सामाजिक स्वातत्र्य-भाव की छोटी-सी लहर भी उठती हुई दृष्टिगत नही होती।

इस उपन्यास की सफलता इसके शिल्प-विधान मे निहित है। मनोविश्लेषात्मक पद्धति का लेखक ने बहुत ही सफल प्रयोग किया है और अनेक परिप्रेक्ष्यो मे, अनेक दृश्य विधानो मे पात्रो की चारित्रिक विशेषता पर इस रूप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है कि उनके मानसिक धरातल के निगूढ तत्त्व भी सरलतापूर्वक उभर कर सामने आ सके है। मानवीय चेतना-लहर की सूक्ष्मताओ को लेखक सफलतापूर्वक आलोकित और विवेचित कर सका है। ऐसा करने के लिए उसने ऐतिहासिक सर्वज्ञता की प्रणाली न अपनाकर मनोविश्लेषात्मक पद्धति की अधुनातन टेकनीक को बहुत ही सफलता के साथ अपनाया है। प्रत्यवलोकन या स्मृत्यवलोकन, पूर्वदीप्ति, चलचित्रात्मक, पत्रात्मक, डायरी, नोट आदि अनेक विधियो का आश्रय ग्रहण कर उसने पात्रो की मनोभूमि को पाठको के सामने प्रस्तुत किया है। कुछ ऐसी घटनाएँ है जिनका पात्र स्मृति के आधार पर अवलोकन करते हैं, कुछ घटनाओ की दीप्ति से वे उच्छ्वसित हो अपने मनोभाव व्यक्त

कर देते है, कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्हे पात्र सभवत: प्रत्यक्ष रूप मे नही कह सकते, किन्तु पत्र मे उनकी अभिव्यक्ति सरलता से कर देते है, दूसरे पात्रो की प्रतिक्रियाओ का भी पात्रो के माध्यम से अच्छा बोध हो जाता है और रही-सही बाते डायरी, नोट आदि से व्यजित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि लेखक ने अपनी ओर से कुछ न कहकर पात्रों के माध्यम से ही उनके मनोभाव, कार्य-विधि, विचार-सरणि आदि को सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया है।

'नदी के द्वीप' मे उद्धरणो का बाहुल्य है। उद्धरणो को या तो पात्रो के प्रस्तुत भाव को रजित करने के उद्देश्य से या उसकी पुष्टि के उद्देश्य से या प्रोत्तेजन के उद्देश्य से प्रयुक्त किया गया है, किन्तु ये उद्धरण ही इस उपन्यास के सबसे दुर्बल पक्ष हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपन्यास के मुख्य पात्र रेखा और भुवन उद्धरणो मे ही जीते है, उनका निजी कुछ नही है। साथ ही एक विज्ञान के डॉक्टर मे साहित्य की ऐसी मर्मज्ञता दिखाकर लेखक ने और भी विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी है।

इस उपन्यास मे प्रतीक-विधान का कुशल प्रयोग हुआ है। उपन्यास का नाम ही प्रतीकात्मक है और नाम के प्रतीक को स्पष्ट करने का लेखक ने अनेक स्थानो पर प्रयत्न किया है, किन्तु इससे जीवन के सत्रास, अस्तित्व के खतरे आदि का बोध न होकर मनुष्य की विवशता का बोध अधिक होता है।

एकाध स्थान पर लेखक ने स्वप्न-विश्लेषण पद्धति भी प्रयुक्त की है जो अपने आप मे प्रतीकात्मक है और विशेष रूप मे प्रभाव उत्पादित कर सकी है।

'नदी के द्वीप' मे स्थान-स्थान पर प्रकृति-दृश्यो के अभिराम चित्र उरेहे गए है। कुछ आलोचको की दृष्टि मे उन प्रकृति-दृश्यो से उपन्यास का प्रवाह बाधित हो उठा है, किन्तु वस्तुत: ऐसा नही है, अपितु प्रकृति के चित्र-विचित्र दृश्य उपन्यास के प्रवाह मे रग-विरगे रत्नो के समान जगमग-जगमग दीप्त होकर पाठको को और भी रस-मग्न करने की क्षमता रखते है।

शिल्प से भी अधिक इस उपन्यास की भाषा की आलोचको ने मुक्त कठ से प्रशसा की है। डॉ० देवराज को सहसा विश्वास नही होता कि हमारी भाषा मे, उसके विकास की इस अवस्था मे, 'नदी के द्वीप' जैसी रचना प्रस्तुत की जा सकती है।[1]......उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही मे टकसाल से ढल कर नई चमक तथा व्यजकता लेकर आगत हुआ है। वे शब्द जो सुपरिचित है और वे जो अल्प-परिचित है, सभी वहाँ निराली सार्थकता से दीप्त और मुखर है।

इसमे कोई सदेह नही कि इस उपन्यास की भाषा बहुत ही प्राञ्जल, परिष्कृत

---

१. आधुनिक समीक्षा, डॉ० देवराज, पृष्ठ १३८।

और प्रौढ है। 'नदी के द्वीप' के पूर्व किसी भी उपन्यास मे इतनी सुघड भाषा नही मिल सकती। भाषा पर लेखक का अद्भुत अधिकार है और वह शब्दो की छटा को और विच्छित्ति को परखने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है। भाषा मे सरस-ऋजु प्रवाह है और अनेक स्थलो पर विराम-चिन्हो से भी भावो की विलक्षण व्यजना कराई गई है। स्थल-विशेष, पात्र-विशेष और भाव-विशेष को देखकर भाषा के स्वरूप को ढाला गया है। फलतः इस उपन्यास की भाषा बहुत ही सशक्त बन पडी है। स्थान-स्थान पर अँग्रेजी के शब्दो का प्रयोग रत्न-राशि मे बदरगी ककडियो के समान खटकता है। भावावेश एव भावाकुलता के प्राधान्य के कारण नपे-तुले शब्दो के स्थान पर कुछ अधिक शब्दो का प्रयोग कही-कही पर किया गया है, कम शब्दो मे भी भाव की कुशल व्यजना सभव है।

"दु:ख सबको माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हे यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखे।"

उक्त कविता को अज्ञेयजी ने 'नदी के द्वीप' के आरभ मे देकर सभवतः यह संकेत दिया है कि इस उपन्यास मे करुणा और वेदना का स्वर प्रधान है किन्तु इस उपन्यास मे करुणा और वेदना का ऐसा कोई स्थल नही है जो पाठको को छू जाए। रेखा की वेदना का ऐसा कोई रूप नही है जो करुणा का उद्रेक कर सके। कुछ सीमा तक उसके निजी, व्यक्तिगत जीवन ने उसे माँजा अवश्य था। इसी कारण वह भुवन को मुक्ति दे सकी।

शृगार प्रधान यह उपन्यास पाठको पर अमिट प्रभाव उत्पन्न करने मे अक्षम है। यह न तो बुद्धि को और न तो मन को अपने प्रभाव मे समेट पाता है और अपने किसी चरम लक्ष्य की ओर भी पाठको को आकृष्ट नही कर पाता। वैसे इस उपन्यास का कोई चरम लक्ष्य है भी नही। शिल्प और भाषा की दृष्टि से असाधारण रचना होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से यह एक साधारण रचना है।

मृगनयनी

'मृगनयनी' का वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ आलोचक इसे सर्वोत्कृष्ट उपन्यास समझते है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'गढ कु डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'महारानी लक्ष्मी बाई' और 'मृगनयनी' अधिक विख्यात उपन्यास हैं। इन सबमे मध्यकालीन भारतीय सभ्यता, सस्कृति, जीवन-पद्धति आदि के अत्यत जीवन्त एव मार्मिक चित्र अकित है, किन्तु वर्मा जी ने इन उपन्यासो मे प्रधानतः बुन्देलखड का इतिहास ही चित्रित किया है और बुन्देलखंड के इतिहास से तत्कालीन भारत का सघर्ष एव द्वन्द्व भरा इतिहास अत्यन्त स्पष्ट रूप मे आभासित हो उठा है। वर्मा जी ने दो प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे है, पहले प्रकार के वे है जिनकी कथा-वस्तु इतिहास-सम्मत है और वातावरण भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत है, दूसरे प्रकार के वे है जिनकी कथा-वस्तु कल्पित है, किन्तु वातावरण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। 'गढ कु डार', 'महारानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी' आदि पहले प्रकार के उपन्यास है और 'विराटा की पद्मिनी' आदि दूसरे प्रकार के उपन्यास है। जिन उपन्यासो के कथानक इतिहास-सम्मत है, उनके लिए भी यह आवश्यक नही है कि उनका पूरा का पूरा कथानक इतिहास-सम्मत ही हो। लेखक अपनी रुचि एव प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अपने मूल कथानक के साथ ऐसे प्रासगिक और अवान्तर कथानक भी जोड सकता है जो कथावस्तु की प्रभावमयता मे सहायक हो और उसे आगे की ओर बढाने मे सफल सिद्ध हो सके। 'मृगनयनी' की कथा-वस्तु के निर्माण मे लेखक ने अनेक स्रोतो से सहारा ग्रहण किया है। राजा मानसिंह का कथानक इतिहास-सम्पत है। सिकन्दर लोदी, गयासुद्दीन खिलजी, नसीरुद्दीन खिलजी, महमूद बघर्रा, राजसिंह, मृगनयनी आदि पात्र इतिहास के आलोक मे चित्रित किए गए है। प्रसिद्ध गायक बैजू बावरा का ऐतिहासिक काल निश्चयपूर्वक निर्धारित नही हो सकता है। उनके सम्बन्ध मे किंयदन्तियो का ही अश्रय ग्रहण किया जा सकता है। बहुत से लोग उन्हे हरिदास स्वामी

का शिष्य और तानसेन का समसामयिक मानते है। वर्मा जी ने किसी एक किंवदन्ती के साक्ष्य पर उन्हे राजा मानसिंह का समकालीन माना है। मृगनयनी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियाँ एव किंवदन्तियाँ बुन्देलखड मे प्रचलित है। वर्माजी ने उनका यथेष्ट उपयोग किया है और उन्हे सशक्त तथा सजीव बनाने के लिए कुछ अवान्तर कथा-वृत्तो का भी सर्जन किया है, जिससे उपन्यास की कथा-भूमि अधिक मार्मिक हो सकी है। मृगनयनी की बाल्यावस्था के जीवन को अपनी कल्पना के पुट से उन्होने अत्यधिक प्रभावशाली बना दिया है। अटल और लाखी लेखक की कल्पना की प्रसूति है और समग्र उपन्यास मे उनके चरित्र रत्न के सदृश भास्वर है। यत्र-तत्र और भी लेखक की कल्पना के पात्र है, जिन सबको आधिकारिक कथा-सूत्र में पिरोकर लेखक ने अपने उपन्यास का निर्माण किया है। 'मृगनयनी' के कथानक में इतिहास, जन-श्रुति, किंवदन्ती और कल्पना का अद्भुत सयोग है। अतः इसे हम शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नही कह सकते। सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास इतिहास नही हो सकता और इतिहास उपन्यास नही हो सकता। दोनो मे बहुत बडा अन्तर है : उपन्यास कल्पना-प्रसूत होता है और इतिहास तथ्यो का आकलन, व्यवस्थापन एव पुनर्व्याख्यान होता है। उपन्यास में इतिहास सूक्ष्म ततु के रूप मे विद्यमान रहता है जिसे लेखक अपनी उर्वर कल्पना से रूपायित करता है, इद्रधनुषी आभा प्रदान करता है, जबकि इतिहास आद्यन्त तथ्यो के सम्बल पर ही खडा रहता है, उनके आकलन, व्यवस्थापन एव पुनर्व्याख्यान मे इतिहासकार की कल्पना सहायक होती है। तथ्यात्मक होने के कारण इतिहास नीरस होता है और काल्पनिक होने के कारण उपन्यास सरस। अतः उपन्यास अपने मौलिक रूप मे इतिहास नही हो सकता। 'मृगनयनी' मे ऐतिहासिक तथ्य हैं, किन्तु तथ्यो को तथ्य-रूप से प्रस्तुत नही किया गया है, वरन् तथ्यो के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सास्कृतिक जीवन को उभारने का सफल प्रयास है। लेखक की कथा का केन्द्रीय विन्दु राजा मानसिंह है जिसके आधार पर पूरे इतिवृत्त का निर्माण हुआ है। उसकी कहानी प्रधानतः मृगनयनी की कहानी से सम्पुष्ट प्रधान कहानी है और अन्य इतिवृत्त—सिकदर लोदी, महमूद बघर्रा, गयासुद्दीन खिलजी, राजसिंह आदि के कथा-वृत्त—या तो मूल कथा से सम्बद्ध है या तो मूल कथा के प्रवाह मे सहायक है। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल कथा सूत्र मे इनमे से कतिपय कथानक प्रत्यक्ष रूप मे किसी प्रकार की सहायता नही पहुँचाते। प्रधान कथा-वस्तु की प्रभावमयता को यदि लेखक और अधिक सघन बनाना चाहता तो निश्चय ही वह अनावश्यक कथा-विस्तार न करता। सिकन्दर लोदी का कथानक मूल कथा-वस्तु से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बद्ध है। लेखक उसे और अधिक

प्रभावशाली बना सकता था। गयासुद्दीन खिलजी और उसके पुत्र नसीरुद्दीन खिलजी के कथानक को अनावश्यक तूल दिया गया है और महमूद बघर्रा का कथानक यदि न रखा गया होता तो उपन्यास की कथा-भूमि को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचती। लेखक इतिहास के मोह मे इस प्रकार ग्रस्त है कि इतिहास के अनावश्यक एवं नीरस तथ्यो की प्रस्तुति के लोभ का सवरण वह नही कर पाता। मूल कथा के प्रवाह मे ऐसे अनावश्यक तथ्य विघातक सिद्ध हुए है।

निन्नी (मृगनयनी) और लाखी के आरम्भिक जीवन का समग्र वर्णन लेखक की कल्पना की प्रसूति है। ऐतिहासिक वातावरण मे उसकी कल्पना ने पूरी कुशलता के साथ दोनो पात्रो का निर्माण किया है जो वस्तुतः बहुत ही स्वाभाविक बन पडे हैं। पूरे उपन्याम मे मूल कथा-वृत्त के साथ अचल, निन्नी और लाखी के जीवन-वृत्त का अश अधिक प्रभावशाली और स्तुत्य बन पडा है। कथा-वृत्त का प्रवाह कही पर भी अस्वाभाविक प्रतीत नही होता। इसी कथा-वस्तु के साथ नटो की कथा-वस्तु भी सम्बद्ध है। यह बात हम स्वीकार करते है कि आधिकारिक कथा-वस्तु के विकास मे इसका किंचित् योग अवश्य है और लाखी की चैत्तिक अशाति और अतर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने मे यह सहायक भी है, किन्तु इसमे कृत्रिमता अत्यधिक है। लाखी जैसी ओजस्वी पात्र नटो के कार्य-कलाप से इतना अभिभूत हो उठे कि उसकी निजी निश्चयात्मक वृत्ति कुठित हो जाए और वह स्वयं अपने भविष्य का किसी रूप मे निर्णय न कर सके, यह सब लाखी के चरित्र-विकास मे चिन्त्य-सा प्रतीत होता है। खैर, अत मे लाखी और अटल को नटो के चगुल से बचाकर लेखक ने दोनो पात्रो के चरित्र को धूमिल होने से बचा लिया है और लाखी के प्रत्युत्पन्नमतित्व एव अद्भुत शौर्य का वर्णन कर उसके चरित्र के औदात्य को सिद्ध कर दिया है। अटल और लाखी के जीवन के अतिम चित्र प्रभावशाली हैं अवश्य, किन्तु एक बात खटकती है। क्या इस रूप मे दोनो का अन्त दिखा देना आवश्यक रहा? क्या लेखक यहाँ भी लाखी के अद्भुत शौर्य को दिखाकर, मानसिंह की सहसा उपस्थिति नही दिखा सकता था? ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी कथा-वस्तु को समेटने के लिए लेखक ने उन दोनों का शौर्यपूर्ण अत अभीष्ट समझा।

विजय जगम, वैष्णव पडित, मजदूरो के नायक और बोधन का जो रूप राजा मानसिंह के सामने प्रस्तुत किया गया है, वह राजकीय गरिमा के अनुकूल नही है। बोधन का लेखक ने राजा के सामने जो उद्धत रूप प्रदर्शित किया है, वह भी मध्यकालीन राजा की गरिमा के सर्वथा अननुकूल है और सिकंदर के दरबार मे बोधन का शास्त्रार्थ और फलतः बोधन का प्राण-दड लेखक की स्वनिर्मित पात्रो से पलायन-वृत्ति का द्योतक है। लेखक उसका अत प्रभावशाली ढग से भी दिखा सकता था।

बैजू बावरा इतिहास का विवादास्पद पात्र है। लेखक ने जन-श्रुति के आधार

पर उसे राजा मानसिंह का समसामयिक मान लिया है। ऐसा करने के लिए उसे और अधिक पुष्ट प्रमाणों का आधार ग्रहण करना चाहिए था।

मृगनयनी राजा मानसिंह की प्रेरणा-स्रोत है। कथा-प्रवाह मे उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वह शौर्य और दृढता की मूर्तिमत प्रतीक है। लेखक को रानी बनने के पश्चात् उसके शौर्य के प्रदर्शन का अवसर लाना चाहिए था, जिससे वह अपने इस कथन को चरितार्थ कर सकती कि वह जौहर नही वरन् शौर्य को अपनाकर आत्म-सम्मान एव अपने सतीत्व की रक्षा कर सकती है। कथानक मे ऐसा मोड प्रभावान्विति की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय सिद्ध होता।

कथा-वस्तु के विन्यास मे यत्र-तत्र अनावश्यक शैथिल्य और विस्तार आ गया है। इसके मूल मे लेखक का ऐतिहासिक तथ्यो के प्रति मोह है। कही-कही लेखक यह बात भूल गया है कि वह इतिहासकार नही वरन् उपन्यासकार है और उसका दायित्व भिन्न है, किन्तु मृगनयनी मे ऐसे स्थल बहुत कम है जहाँ पर तथ्यात्मक विवृति के पीछे लेखक ने अपने उपन्यासकार के दायित्व को विस्मृत कर दिया हो। परवर्ती उपन्यासों मे यह प्रवृत्ति सुस्पष्ट है, यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक उपन्यासकार न होकर इतिहास-लेखक है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक या तो अपनी कथा-वस्तु का विन्यास करने मे सफल नही है, या तो जो ऐतिहासिक तथ्य उसके सामने है, उनके उपयोग के लोभ को सवृत्त नही कर पाता, जिसके परिणाम स्वरूप कथा-वस्तु के प्रवाह मे अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

'मृगनयनी' मे वर्मा जी तत्कालीन जीवन का अत्यन्त सुन्दर एव चित्ताकर्षक चित्र अकित कर सके है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन परिवेश को उन्होने बहुत ही सूक्ष्मता से देखा-परखा है। मध्यकालीन बुन्देलखड का जन-जीवन कैसा रहा होगा; लोगो के आचार-विचार, व्यवहार कैसे रहे होगे, उस समय की धार्मिक और सास्कृतिक चेतना कैसी रही होगी, इन सबका जीवन्त स्वरूप हमे वर्मा जी के इस उपन्यास मे प्राप्त हो जाएगा। उस समय का जन-जीवन कितना दुःखमय था। एक ओर विकट दैनन्दिन चर्या, दूसरी ओर आक्रामको के अनपेक्षित आक्रमणो की विभीषिका, एक ओर खेती और व्यापार की चिंता, दूसरी ओर आक्रामको की लूट-खसोट की चिंता, एक ओर धार्मिक भावना, ईश्वर की उपासना, मदिरो और देवस्थानो के प्रति अटूट श्रद्धा, दूसरी ओर आँखो के सामने ही मदिरो का भग्न होना, मूर्तियो का भञ्जन, अपने आराध्य देवताओ का अपमान, एक ओर विशुद्ध परिवार-भावना, माँ-बहन, पडोसी आदि के प्रति ममत्व, श्रद्धा और निश्छल अनुराग, दूसरी ओर निरीह, निरुपाय जन के सामने उसी की पत्नी, बहन, माँ का अविषह्य अपमान। ये सब कितने करुण और कितने भयावह है? कल्पना-मात्र से मन सिहर उठता है। वर्मा जी ने उस समय की सामाजिक

आर्थिक और सास्कृतिक अवस्था का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है। उस समय का हिन्दू कितना निस्सहाय था। कोई भी उसका सहायक नही था। धर्म के व्याख्याता पडित और पुरोहित अपनी असहायावस्था मे मौन थे, राजपूत पारस्परिक विद्वेष और ईर्ष्या के अनल मे आपाद-शीर्ष जल रहे थे, सामान्य जन आपद्धर्म का भी पालन नही कर रहा था, वर्णाश्रम की अवस्था और भी विकट हो गई थी, अपने भी पराए होते जा रहे थे, साधु-संन्यासी परम तत्व की खोज मे स्व-धर्म से विच्युत थे। उस समय ऐसा कोई नही था जो निराश, आत्म-केन्द्रित हिन्दू जाति के कर्ण-कुहर मे जागरण का शख-नाद फूंक सकता, उस समय ऐसा कोई नही था जो हिन्दू जाति की सकुचित वृत्ति को अपनी प्ररोचना के बल पर परिष्कृत कर महान् सामाजिक भावना के रूप मे परिणत कर सकता। वस्तुतः निराश, कुठित, हताश जाति के लिए शौर्यपूर्ण नेतृत्व अपेक्षित होता है। राजा मानसिह मे उस नेतृत्व का आभास मिलता है। किन्तु उस युग मे, जबकि चतुर्दिक् भीषण झझा का प्रलयकारी लहाछेह नर्तन हो रहा था, जबकि चतुर्दिक् पारस्परिक विद्वेष की सुलगती हुई अग्नि से गगनमडल धूमायित था, जबकि विजातीय धर्म और सस्कृति अपनी प्रखर धार से हिन्दुत्व को कुठित किए जा रही थी, राजा मानसिह का उदय उल्का पिड के समान ही प्रतीत होता है जो अपने आस-पास के वातावरण को देदीप्यमान करता हुआ अततः अस्तमित हो गया।

उपन्यासकार जिस जीवन का चित्रण करता है, उसमे विस्तार अधिक होता है, व्यापकता अधिक होती है, फलतः गाम्भीर्य नही होगा। महाकाव्य मे भी विस्तार और व्यापकता होती है, किन्तु इनके साथ ही गाम्भीर्य भी होता है। यही सबसे बडा अन्तर है उपन्यास और महाकाव्य मे। महाकाव्य मे सास्कृतिक चेतना अधिक मुखर रहती है, किन्तु उपन्यास मे सामान्यतः उसका बाह्य पक्ष ही अधिक रहता है। जिस उपन्यास मे बाह्य के साथ आतरिक पक्ष को भी अभिव्यक्ति होगी, उसमे बिखराव अधिक होगा, कथा-वस्तु का निर्मुक्त प्रवाह नही होगा। सामाजिक उपन्यासो मे तॉलस्तॉय का 'युद्ध और शान्ति' और ऐतिहासिक उपन्यासो मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'चारु चन्द्रलेख' उदाहृत किए जा सकते है। 'युद्ध और शान्ति' मे बिखराव इतना अधिक है कि वह कलात्मक दृष्टि से उपन्यास जैसा प्रतीत नही होता और 'चारु चन्द्रलेख' मे काल-विशेष के सास्कृतिक धरातल की इतनी विस्तृत विवृति है कि कथा का निर्वाह निर्बाध भाव से नही हो सका है और प्रभावान्विति बाधित हो उठी है। 'मृगनयनी' मे ऐसा प्रश्न नही है। लेखक चाहता तो जमकर तत्कालीन सास्कृतिक चेतना का चित्रण कर सकता था। विजय जगम, वैष्णव पंडित, बोधन, बैजू बावरा, मुस्लिम मुल्ला आदि ऐसे पात्र है, जिनके माध्यम से सास्कृतिक चेतना का चित्रण कर सकता था। अनेक कोणो से अभिव्यजित किया जा सकता था। स्वय राजा मानसिह ऐसे पात्र

रहे है जो सास्कृतिक चेतना के अच्छे माध्यम हो सकते थे, किन्तु वर्मा जी ऊपरी स्तर की सास्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त कर उसकी गहराई मे जाने से विरत हो गए। फलस्वरूप उपन्यास की सहजता बनी रही। सामान्य स्थिति मे यह भी देखा जाता है कि जब कोई लेखक सास्कृतिक धरातल की गहराई मे जाता है तो उसकी रचना दुरूह हो जाती है और कथानक की अन्विति भी बाधक हो जाती है। वर्मा जी ने इस प्रकार दोनो प्रकार के दोषो से अपनी रचना को बचा लिया है और सास्कृतिक चेतना और धारा को जिस रूप मे प्रवाहित किया है, वह अपनी स्वभाविकता के कारण वरेण्य है।

'मृगनयनी' मे पात्रो की विविधता है। पुरुष पात्रो मे राजा मार्नासह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह शौर्य का प्रतीक है, किन्तु सहिष्णु और क्षमाशील है। उसमे पौरुष है और औदार्य भी हैं, दृढता है और परदुःखकातरता भी है। वह बुद्धिमान् और कूटनीति परायण है। धर्म मे उसकी सहज आस्था है, किन्तु रूढि और परम्परा को कसकर पकडने वाला नही है। जाति-पाँति के जटिल बन्धन के प्रति उसके मन मे उपेक्षा-भाव है। कला के प्रति उसके मन मे महज आकर्षण है। कला मे निमग्न होकर कभी-कभी कर्त्तव्य-पथ से भी विचलित-सा हो जाता है। उस समय मृगनयनी उसकी सहज प्रेरणा बन जाती है। इस प्रकार हम देख सकते है कि मार्नासह मे अनेक प्रकार के गुण विद्यमान है। वह शौर्य का जीवन्त प्रतीक होते हुए भी क्षमाशील है। इसी कारण कला को क्षमा कर देता है। उसमे सबसे बडा गुण है प्रजावत्सलता। चाहे युद्ध का समय हो चाहे शान्ति का समय हो उसे सर्वदा अपनी प्रजा के मगल और कल्याण का ध्यान रहता है और सभी वर्ग के प्रजा-जन को समान दृष्टि से देखता है। मृगनयनी प्रेरणा-स्रोत बनकर उसके प्रत्येक कार्य मे सहायक सिद्ध होती है।

पुरुष पात्रो मे विजयजगम अपनी श्रम की उपासना और कला की आराधना के कारण उल्लेख्य है। बैजू बावरा का भी चरित्र-निर्माण लेखक ने सावधानी से किया है। अटल का पात्र उतना सहज और महत्त्वपूर्ण नही हो सका है, जितना उसकी बहन निन्नी (मृगनयनी) का। निहाल सिंह के अद्भुत शौर्य और पराक्रम के चित्रण मे लेखक को अच्छी सफलता मिली है। राजसिंह के मिथ्या अह और थोथले स्वाभिमान को बहुत ही स्वाभाविक रूप मे चित्रित किया गया है। महमूद बघर्रा का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत किया गया है। गयासुद्दीन और बसीरुद्दीन की दुर्बलताओ को लेखक बहुत ही सूक्ष्मता के साथ दिखा सका है। समस्त पुरुष पात्रो को मार्नासह अपने गौरव और औदात्य से ढक लेता है।

नारी पात्रो मे मृगनयनी का चरित्र देदीप्यमान रत्न के समान है। बचपन से लेकर जीवन की अतिम अवधि तक उसका चरित्र अत्यन्त महनीय और उदात्त है। बचपन से अपने भाई अटल की छाया मे विपन्नावस्था मे भी वह सुख, शाति जीवन

यापित कर लेती है। लाखी के साहचर्य मे वह असीम उल्लास के साथ अपना समय व्यतीत कर लेती है। कभी-कभी लाखी से ईर्ष्या-जनित व्यवहार भी कर बैठती है, कभी-कभी किंचित् सकुचित वृत्ति का भी परिचय दे देती है, किन्तु कुछ देर मे सब कुछ भूल जाती है और लाखी के प्रति पूरी आत्मीयता से अपना स्नेह प्रकट करती है। नटो की तडक-भडक की वस्तुओ को देखकर उसे अधिक आश्चर्य या मोह नही होता, जबकि लाखी आश्चर्य-चकित और मुग्ध हो जाती है। राजा मानसिह के प्रेम को स्वीकार कर उसके हाथ मे अपना हाथ देकर उसने कहा था—'मैं नही जानती क्या कर रही हूँ। मेरी पत रखना।' एक अकिंचन को राजरानी का पद मिला, वह गर्वोन्नत नही हुई, उसे आत्म-मर्यादा का ही ध्यान रहा और लाखी से विलग होते समय वह कितना कितना रोई थी! नारीत्व का यह कितना स्वाभाविक चित्रण है।

मृगनयनी मे सौंदर्य, शील और शक्ति तीनो का समन्वित रूप है। वह इतनी सुन्दर है कि उसे एक बार जो देख ले वह विस्मित-विमुग्ध होकर उसे देखता ही रह जाए और शील का तो वह जीवन्त विग्रह है। उसके शौर्य को देखकर तो दर्शक आश्चर्य चकित हो उठता है। सौंदर्य मे ऐसी शक्ति मानो दुर्गा का साक्षात् अवतार! राजरानी के रूप मे प्रतिष्ठित होने पर वह अपनी स्थिति अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे स्वीकार कर लेती है। अपनी सपत्नियो को सापत्न्य भाव से नही अपनाती, वरन् उनके प्रति अपना निश्छल प्रेम-भाव प्रदर्शित करती है। सुमनमोहिनी ने अनेक प्रकार से, अनेक रूपो में उसे प्रवचित करने का प्रयत्न किया, उसे विष तक देने का प्रयत्न किया, किन्तु मृगनयनी ने कभी भी प्रतिकार की भावना नही दिखाई। उसकी स्थिति इतनी दृढ थी कि वह सुमनमोहिनी से सहज भाव से प्रतिकार ले सकती थी, पर अपनी उदारता और सहज मानवीय भावना के कारण उसने उसे हर बार क्षमा कर दिया।

लाखी से वियुक्त होने पर वह बहुत अधिक विक्षुब्ध हो उठी थी, उसी लाखी को अपने निकट पाकर वह हुलसित हो उठी थी और उसे अपने साथ इतने प्रेम के साथ रखा था कि लाखी को स्वप्न मे भी यह कल्पना नही हो सकती थी कि मृगनयनी रानी है और वह एक सामान्य नारी। लाखी और अपने भाई की मृत्यु का समाचार उसके लिए वज्र-निपात-सा ही था, तथापि विपत्ति की स्थिति मे राजा के शक्ति-सतुलन को बनाए रखने के लिए उसने धैर्य धारण किया।

वह कला की उपासिका है। राजा की पत्नी, प्रेरणा एव शक्ति है। वह राजा को कर्तव्य पथ पर बढने के लिए निरतर प्रोत्साहित करती रहती है। जब कभी राजा में किसी प्रकार की शिथिलता प्रतिभासित होती है, वह उनके शरीर मे और मन मे नव ऊर्जा उत्पन्न कर देती है। वह आत्म-सुख ही सब कुछ नही समझती। उसे सेवा में, प्रजा-जन के सुख मे यथार्थतः सुख की अनुभूति होती है। वह चाहती है कि वीणा के

तार भी झंकृत होते रहे, मंदिरो मे शंख निनादित होते रहे और अनिवार्य युद्ध की स्थिति में रण-भेरी का निनाद शूर-वीरो को कर्त्तव्य-पाठ का बोध भी देता रहे। उसकी अंतिम अभिलाषा थी प्रजा का सुख और देश की स्वाधीनता। देश की स्वाधीनता और प्रजा के सुख मे ही उसका सच्चा सुख निहित है। इतिहास के पृष्ठो पर वस्तुतः ऐसा ओजस्वी नारी-पात्र सुदुर्लभ है।

लाखी के चरित्र-निर्माण मे भी लेखक ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। निन्नी उसकी सखी है। उसके साथ रहने मे, शिकार खेलने मे उसे आनन्द का अनुभव होता है। अटल के प्रति उसके मन मे आकर्षण उत्पन्न होता है और अटल के कहने पर वह प्रतिश्रुत हो जाती है। माँ के आकस्मिक निधन के कारण वह विपन्न हो जाती है और सभी प्रकार से अटल और निन्नी के आश्रित हो जाती है। नटो की चमक-दमक, उनके वस्त्रालकार आदि को देखकर उसका चित्त चचल हो जाता है, फिर भी वह अपने चित्त को सयत कर लेती है। निन्नी के समान ही अपने लक्ष्य-भेद मे प्रवीण है और कई बार अपने शौर्य का प्रदर्शन भी कर चुकी है। जब निन्नी रानी हो जाती है तो उसके मन मे उसके प्रति रचमात्र भी ईर्ष्या जागृत नही होती, किन्तु वह निन्नी के पास इसलिए नही जाना चाहती कि कही उसे निन्नी की चेरी न बनना पडे। उसमे नारी-सुलभ स्वाभिमान है, किन्तु निन्नी के इतने निकट होते हुए भी वह उसके स्वभाव की विशालता को न समझ सकी। उसमे दृढता एवं यथेष्ट साहस है। वह नटो के साथ जाने के लिए तत्पर हो जाती है। वह जातीय अवमानना को सहन करने के लिए तैयार नही और साथ ही अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपनी निन्नी के पास भी जाना रुचिकर नही समझती। वह स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करना चाहती है। मगरोनी मे पहुँचने पर जब उसे गयासुद्दीन के आक्रमण का समाचार मिलता है, वह क्षण मात्र के लिए विचलित हो उठती है और पिल्ली के षड्यन्त्र की बात जानकर मन ही मन निश्चय कर लेती है, किन्तु अटल को नटो की दुरभिसन्धि के सम्बन्ध मे कुछ भी नही बताती, क्योकि वह उस विषम परिस्थिति से सुरीत्या परिचित है और जानती है कि अटल से कह देने पर स्थिति और भी जटिल हो जाएगी, वह विवेक से काम नही ले सकेगा। नरवर के किले मे जाने के लिए उतावली हो जाती है, किन्तु नटो के जाल से सरलता से बच नही पाती। फिर भी वह परिस्थिति को अपने वश से जाने नही देती। पिल्ली के सामने अपनी कृत्रिम विवशता का परिचय देकर उसके समस्त रहस्य को जान लेती है और मन ही मन अपना करणीय निर्धारित कर लेती है, किन्तु इस स्थिति मे भी अटल को परिस्थिति की अवगति नही होने देती। पाठको को उसके ऊपरी व्यवहार को देखकर आश्चर्य होता है, किन्तु लेखक की योजना मे उसका दृढ निश्चय अंतर्निहित है। समस्त नटो के उतर जाने पर पिल्ली के उतरते

समय वह रस्सी काट देती है। उसके लिए पिल्ली सर्वाधिक घृणय है और उसका उच्छृंखल व्यवहार उसकी दृष्टि मे अक्षम्य है। उसने पूरे साहस के साथ नटो से प्रतिशोध लिया है और नरवर किले को आक्रामको से बचाया है। इस स्थिति मे उसने जिस शूरता, धीरता और साहस का परिचय दिया है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

ग्वालियर मे मृगनयनी के साथ वह बहुत ही निश्छल भाव के साथ रह सकी। उसने ऐसी कोई समस्या उपस्थित नही की, जिससे मृगनयनी को किसी प्रकार की उलझन होती। वह तो वस्तुतः मृगनयनी की छाया है। यदि मृगनयनी प्रश्न है तो वह उदार उत्तर है। कला की उपासना मे, मृगनयनी के सान्निध्य मे उसे अवर्ण्य आनन्द का अनुभव होता है। राईगढ़ी मे जाना उसे रच मात्र भी रुचिकर प्रतीत नही होता, किन्तु कर्त्तव्य की डोर मे बँधी वह वहाँ जाती है और अपने जीवन का अत किले की रक्षा मे साहस और दृढता के साथ शत्रुओ का सामना करते हुए कर देती है। वह अपनी मृत्यु से और भी महान् बन गई। वस्तुतः लाखी का पात्र अपनी दीप्ति और आभा मे मृगनयनी के समकक्ष है।

इन पात्रो के अतिरिक्त सुमनमोहिनी और कला के पात्रो को भी लेखक ने उभारा है। सुमनमोहिनी ईर्ष्या और द्वेष के कारण ज्वलनशील स्वभाव की नारी है। वह कुत्सित कृत्यो मे ही रस लेती है। कला की एक विशिष्ट भूमिका है। वह राजसिंह के गुप्तचर के रूप मे काम करती है किन्तु बैजू के कारण अपने उद्देश्य मे सफल नही हो पाती और अत मे मूर्तियो को मुसलमानो द्वारा भजित देखकर और राजसिंह को विवश पाकर पराभूत हो जाती है। वह कला की उपासिका है। इस कारण कला का निष्करुण विध्वस देखकर उसका हृदय आन्दोलित हो उठता है। उक्त समस्त नारी-पात्रो मे मृगनयनी और लाखी दोनो ही लेखक की अनुपम सृष्टि हैं।

'मृगनयनी' के माध्यम से वर्मा जी ने मध्यकालीन भारत, प्रधानतः बुन्देलखड का सामाजिक और सास्कृतिक जीवन चित्रित करने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत मे गोते लगाते समय भी अपनी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित रखता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह अपने वर्तमान से ही परिचालित होकर अतीत के पृष्ठ उलटता है। राष्ट्रीय जागृति एव नव जागरण को और तीव्रता से प्रोत्तेजित करने के उद्देश्य से ही वर्मा जी ने राजा मानसिंह और मृगनयनी के आख्यान का पुनराख्यान और व्याख्यान प्रस्तुत किया है। मानसिंह और मृगनयनी के जीवन-वृत्त एव क्रिया-कलाप से राष्ट्रीय चेतना के एक सुन्दर रूप का आभास मिलता है और देश-भक्ति की दृढ भित्ति प्राप्त हो जाती है।

इस उपन्यास की शैली सहज है और भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है। आचलिक शब्दो का सटीक प्रयोग बुन्देलखडी जन-जीवन को सजीव कर देता है। वर्मा जी ने

वातावरण की निर्मिति मे भाषा का भी यथोचित उपयोग किया है। पात्रो के अनुकूल भाषा रखी गई है। वर्मा जी मे कल्पना का अभाव नही है, किन्तु कवि-कल्पना नही है। तथापि प्रकृति-चित्रण के ऐसे अनेक सुरम्य स्थल इस उपन्यास मे प्राप्त हो जाते है, जिन्हे काव्यात्मक कहा जा सकता है। साधारणतः भाषा शुद्ध और परिष्कृत है। कही-कही भाषा-रूप मे शैथिल्य है। 'चोकने', 'रोद', 'खँडहल', 'लखना' (देखना के अर्थ मे), 'भोह', 'भेसे' आदि शब्द-रूप चिन्त्य है। 'उस पर लाखी या निन्नी ने तीर नही चला पाया।' (पृष्ठ ५३) 'पाना' के साथ सकना के अर्थ मे 'ने' विभक्ति का प्रयोग नही होता। 'अन्यत्र स्थानो पर' (पृष्ठ ७४) 'अन्य स्थानो पर' होना चाहिए। कुछ ऐसे शिथिल और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग मिल जाते है। एक बात अवश्य है। उपन्यास लेखक का भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए, वर्मा जी स्यात् वैसा अधिकार नही रखते। भाषा के वे वशवर्ती हैं, भाषा उनकी वशवर्तिनी नही।

कथा-वस्तु-विन्यास मे किंचित् शैथिल्य, इतिवृत्त के कतिपय नीरस और अनावश्यक अश, कुछ पात्रो के अस्वाभाविक विकास, प्रभावान्विति की दृष्टि से कतिपय घटनाओ के अनपेक्षित विकास और भाषागत शैथिल्य के बावजूद 'मृगनयनी' एक सुन्दर कृति कही जा सकती है।

दिव्या

'दिव्या' यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक ने इस उपन्यास मे बौद्ध कालीन जीवन का काल्पनिक चित्र अकित किया है। लेखक के ही शब्दो मे 'दिव्या' इतिहास नही, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र मे ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रग देने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन जीवन का इतिहास-पृष्ठ धूमिल है। इसी कारण लेखक को बहुत-कुछ कल्पना के सहारे ही आगे बढना पडा है। वस्तुतः इस ऐतिहासिक उपन्यास का मूल उद्देश्य तत्कालीन जीवन के रूप-चित्र के माध्यम से भारत के अतीत गौरवमय इतिहास का शब्द-चित्र प्रस्तुत करना है। सतत परिवर्तनशील जीवन मे मानवता के विकास को ध्यान मे रख कर ही लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की है। वर्तमान जीवन की कटुता से पलायन इस उपन्यास का उद्देश्य नही है, वरन् अतीत के जीवन को चित्रित कर लेखक ने मानवता के भावी विकास की ओर सकेत किया है। उसे यह विश्वास है कि मानवता समस्त परिवर्तनो के मध्य विकसित होती रहेगी। उसके विकास-पथ मे आने वाले समस्त अन्तराय स्वयमेव दूरीभूत हो जाएँगे।

यशपाल जी यथार्थवादी लेखक हैं। उन्होने अपनी रचनाओ मे मार्क्सीय सिद्धांत-पक्ष को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक के सामने सदा ही यह जटिल समस्या रहती है कि वह अतीत जीवन को चित्रित करते समय वर्तमान जीवन की समस्याओ एव सिद्धात-पक्ष को किस रूप मे प्रस्तुत करे, जिससे उनका सहज-स्वाभाविक विकास रचना के मध्य से ही प्रस्फुटित होता हुआ प्रतीत हो, क्योकि आरोपण का खतरा सदा ही विद्यमान रहता है। यशपाल जी ने इस रचना मे विशेष सावधानी के साथ अपने सिद्धान्त-पक्ष को रखा है। इस कारण कही पर भी सहज स्वाभाविक विकास प्रतिरुद्ध प्रतीत नही होता। उपन्यास की मूल समस्या के रूप मे वर्ग-सघर्ष और अभिशप्त नारी-जीवन को लिया गया है। मद्र गणराज्य के सामाजिक

जीवन को उसकी समस्त अच्छाइयो और बुराइयो के साथ अकित किया गया है। धार्मिक प्रवृत्तियो ने जन-सामान्य के जीवन को किस रूप मे प्रभावित किया था, इसका अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण उपन्यासकार ने किया है। एक ओर वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की छटपटाहट का व्यक्तीकरण है और दूसरी ओर बौद्ध धर्म की छत्र-छाया मे निखिल मानवता को समरूप देखने की चेष्टा की अभिव्यक्ति है। मद्र के शासन-तत्र मे भी इन्ही धार्मिक भावनाओ के प्राधान्य के कारण आतरिक अव्यवस्था दृष्टिगत होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की व्यग्रता रुद्रधीर और उसके सहयोगियो में परिलक्षित होती है, किन्तु आरभ मे मद्र की शासन-व्यवस्था के कारण उन सबको अपने मुँह की खानी पडती है और पृथुसेन को वर्ण के आधार पर अपमानित-तिरस्कृत करने के कारण रुद्रधीर को देश-निष्कासन का दड भोगना पडता है। दूसरी ओर बौद्ध धर्म को राजकीय सश्रय प्राप्त होने के कारण सारी धार्मिक व्यवस्था का कुछ दूसरा रूप ही ऊपर-ऊपर से प्रतिभासित होता है, परन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था के अग्रदूतो की भावना धूमायित होते हुए भी विलीन नही हो पाती, वरन् भीतर ही भीतर वह और अधिक शक्ति का सचय कर ऐसा उग्र रूप धारण कर लेती है कि उसकी लेलिह्यमान जिह्वा राजव्यवस्था को भी आत्मसात् कर लेती है। पृथुसेन आदि जो अपनी शक्ति और धन शक्ति के कारण आगे बढ गए थे, धकेल दिए जाते है और जन्म की शक्ति को महत्त्व प्रदान करने वाली वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठित हो उठती है। लेखक ने पूरी कुशलता के साथ धार्मिक सघर्ष को रूपायित किया है और मानव-श्रेष्ठता के इस झूठे आधार को उपहास्य सिद्ध किया है। मानव अपने महीयान कर्म से महान् बनता है, जन्म से नही; किन्तु तत्कालीन भारत मे जन्म का पलडा ही भारी था। यशपाल जी ने उसके खोखलेपन को प्रतिपादित करते हुए उस पर तीव्र प्रहार किया है और यह सिद्ध किया है कि दैवायत्त जन्म स्वायत्त कर्म के महत्त्व को परिम्लान नहीं कर सकता।

इस उपन्यास की कथा-वस्तु का केन्द्र-विन्दु दिव्या है। लेखक ने समस्त परिस्थितियो को इस रूप मे अकित किया है कि प्रत्यक्ष रूप या अप्रत्यक्ष मे वे दिव्या के जीवन से सम्बद्ध है। उपन्यास के कथानक के आरभ मे भी और अत मे भी लेखक ने जाति और धर्म की व्यवस्था पर प्रहार किया है। आरभ मे पृथुसेन को दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने का अधिकार इसलिए नही है कि दिव्या ब्राह्मण कुलोद्भव है और पृथुसेन दास-पुत्र। उपन्यास की यही मूल समस्या बन जाती है और इसी कारण दिव्या को प्रवचना का शिकार होना पडता है और उसका सारा जीवन विषायित हो जाता है। अन्त मे पुनः दिव्या के जीवन को विलुलित प्रकपित बनाने में धर्म-व्यवस्था का ही हाथ है। ब्राह्मण कुल में उसकी उत्पत्ति उसके लिए अभिशाप सिद्ध होती है : वह

राजनर्तकी के पद को भी अलंकृत नही कर सकती। जितने धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हैं वे सब के सब दिव्या के मूल कथानक की ओर ही अभिसरण करते हैं। उपन्यास का कथानक काल्पनिक ही है। इसमे ऐतिहासिकता केवल इतनी है कि इसका सारा वातावरण और परिवेश ऐतिहासिक आधार पर अकित किया गया है। वातावरण-निर्माण मे बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का सघर्ष अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सका है।

दिव्या के चरित्र को लेखक ने विभिन्न परिस्थितियो मे अकित कर उसे बहुत कुछ गत्यात्मक रूप मे प्रस्तुत किया है। वह अभिजात कुमारिका है। उसके मन मे पृथुसेन के व्यक्तित्व के प्रति सहज आकर्षण उद्भूत हो उठता है। वह जानती है कि पृथुसेन दास-पुत्र है और दास-पुत्र तथा ब्राह्मण कन्या का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक आधार पर विहित नही है, परन्तु उसका मन इन सब पर विचार नही कर पाता। वह उसके आकर्षक व्यक्तित्व और अप्रतिहत शौर्य पर विमुग्ध हो अपना सर्वस्व उसे अर्पण कर देती है। उसका सारा आत्म-समर्पण अविचारित है। परिणाम की चिन्तना उसे बाधित नही कर पाती। किन्तु दासपुत्र पृथुसेन उसकी ऊँचाई तक नही पहुँच पाता। परिस्थितियो के किंचित् परिवर्तन के कारण वह यह भूल जाता है कि जिसने अनाविल हृदय हो उसका विश्वास किया था और उसे अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, उसके प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य है। आत्मोन्नति के लिए वह अपने पिता के इगित और विचार को अधिक महत्त्व देता है तथा सीरो को इस कारण अपना लेता है कि उसके माध्यम से वह अधिक से अधिक विकास कर सकता है। जिस दिव्या ने उसे जीवन की प्रेरणा प्रदान की थी, जिस दिव्या ने उसके शक्ति-साहस को शाणित किया था, उसे वह विस्मृत कर बैठता है। प्रवचित स्तम्भित दिव्या स्वय उसके यहाँ आश्रय पाने जाती है, पर उसमे इतनी शक्ति नही, इतना साहस नही कि वह सीरो के प्रभाव और आतक से बाहर निकल कर उसके लिए कुछ कर सके। जिस दिव्या का स्वाभिमान इतना प्रबल रहा है कि उसने रुद्रधीर के साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को इस कारण अस्वीकार कर दिया था कि रुद्रधीर के गृह में उसे सपत्नी-भाव को अपनाना पडता, वही पृथुसेन के यहाँ सीरो की सपत्नी बनाने के लिए भी तत्पर थी, परन्तु इतना होने पर भी वह जिस पुरुष का आश्रय चाहती थी, जिसके अश को अपने भीतर सोल्लास धारण किए हुए थी, उसे पा न सकी। जिसका उसने सहज विश्वास किया था, उसने ही उसके जीवन पर इतना उदग्र प्रहार किया कि वह किसी भी रूप मे अपने आप को संतुलित न रख सकी और परिस्थितियो ने उसे इस रूप मे विजडित और कर्तव्य-मूढ बना दिया कि उसने परिणामो पर विचार किए बिना जीवन सरिता की धारा मे अपने आप को उत्क्षिप्त कर दिया।

सम्भ्रांत कुल में पालित दिव्या जीवन-सरिता की धारा में अपने आपको उत्क्षिप्त कर यह अनुभव कर सकी कि जीवन किस प्रकार दारुण और कटक-संकुल है और नारी सामाजिक संरचना में कितनी दुर्बल और अशक्त है। दासी के रूप में उसने जीवन की कटुता को देखा ही नहीं, वरन् पूर्णरूप से अनुभव किया। सद्यः प्रसूता दिव्या अपने पुत्र शाकुल को तृषित-क्षुधित देखती रह जाती और उसके स्तन का सारा दूध द्विज-पुत्र गटक ले जाता, जिसके लिए वह क्रीत की गई थी। अपने पुत्र के जीवन को बचाने के लिए उसने सारे प्रयत्न किए, यहाँ तक कि बौद्ध-विहार में भी प्रश्रय प्राप्त करने की कोशिश की; परन्तु दासी होने के कारण उसे प्रश्रय न प्राप्त हो सका। बौद्ध-विहार में उसे यह कटु अनुभव हुआ कि दासी वेश्या की तुलना में भी तुच्छ है। दासी दासी होती है, उसका कोई स्वामी होता है, जबकि वेश्या स्वतंत्र नारी होती है। अपने पुत्र को बचाने के लिए वह कुछ भी कर सकती थी, वेश्या भी बन सकती थी, वेश्या बनने का संकल्प भी उसने कर लिया था, किन्तु यमुना-तट पर ब्राह्मण (उसका स्वामी) को देख और उसकी पुकार सुन उसने व्याकुल हो यमुना में पुत्र-सहित आत्म-निक्षेप कर दिया। जिस पुत्र की रक्षा के लिए वह सब कुछ कर सकती थी, उस पुत्र को खोकर वह रत्न प्रभा की सहेली और अत्यन्त अंतरंग अंशुमाला के रूप में लोगों के सामने आविर्भूत हुई। दिव्या ने अंशुमाला के रूप में सब कुछ पाया : अतुल धन और यश, रत्न प्रभा का स्नेह और अभिजात वर्ग का प्रशंसा-भाव, किन्तु उसके पुत्र का अभाव उसके मन में निरन्तर दरकता रहा। वस्तुतः उसने अपना सर्वस्व खोकर यह सब प्राप्त किया था। यही कारण है कि उसकी प्रशंसा करने वाला अभिजात वर्ग उसकी प्रेम-माधुरी न पाकर उसे काष्ठ-पुत्तलिका-मात्र समझने लगा था। वस्तुतः पत्नी-रूप में तिरस्कृत एवं मातृ-रूप में लांछित दिव्या कला-उपासिका-मात्र रह गई थी। वह कटुता से यह अनुभव कर सकी थी कि नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह पुरुष की भोग्या-मात्र है, भोग का उपादान है। उसके कानों में बार-बार मारिश का यह कथन गूँज उठता था—भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार-मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।' कला-उपासना में तत्पर होते हुए भी वह यह नहीं भूल पाती थी कि उसका सारा सौंदर्य, सारी कला-साधना नारीत्व का आकर्षण मात्र है, जिसकी चरम सिद्धि मातृत्व में निहित है, किन्तु उसका मातृत्व वन्ध्य सिद्ध हो गया था, उसका पत्नीत्व अभिशप्त हो गया था। फलतः वह कला की पुत्तलिका-मात्र रह गई थी। अनेक सम्भ्रांत पुरुषों के आकर्षण और प्रेम-निवेदन को वह ठुकरा चुकी थी, क्योंकि पुरुष की भ्रमर-वृत्ति ने उसे प्रवंचित किया था। उसका सारा मनोविज्ञान प्रवंचित और हारे हुए का मनोविज्ञान था। यही कारण है कि वह मारिश के सहज, निश्छल प्रेम-निवेदन को भी स्वीकार न कर सकी।

कला-उपासना मे निरत दिव्या (अशुमाला) की कीर्ति-सुरभि सागल में मल्लिका देवी के पास तक भी पहुँची और वह अपनी शिष्या रत्नप्रभा से उसे माँग लाई। उसका अभिलाष था उसे राजनर्तकी के पद पर अधिष्ठित करना, पर वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः दिव्या के मार्ग मे आया। वह राजनर्तकी पद पर अभिषिक्त न हो सकी और पुनः सागल छोडने के लिए विवश हुई। उसे पहली बार सागल छोडने के लिए विवश होना पडा था लोक-लज्जा के कारण, परन्तु इस बार आत्म-सम्मान ने उसे छोडने के लिए विवश किया। पहली बार अपनी मातृतुल्या दासी के साथ पाथशाला का मार्ग खोजते-खोजते भटक गई थी, किन्तु इस बार उसमे इतना दृढ विश्वास और दृप्त अहभाव था कि उसने सहज रूप मे ही पांथशाला का मार्ग पूछ लिया था और जन-मेदिनी उसकी अनुगता था। पहली बार वह छिन्नमूला और हतभागिनी थी, पर दूसरी बार उसका आत्म-बल उसका सम्बल था। अनुभव ने उसे परिपक्व बना दिया था। और पाथशाला मे वर्णाश्रम व्यवस्था के अधिष्ठाता ने जब उससे उसका हाथ माँगा तो वह स्वीकार न कर सकी, क्योकि वह जानती थी कि आचार्य की पत्नी हो जाने पर वह स्वातन्त्र्य-भावना से वचित हो जाएगी। चीवरधारी पृथुसेन का धर्म की शरण जाने का आह्वान उसे रुचिकर प्रतीत नही हुआ, क्योकि जीवन से पलायन को वह धर्म नही मानती थी और धर्म का आडम्बर बौद्ध-विहार की उस घटना के कारण उसकी आँखो के सामने नाच उठा, जिसने उसे विवश-आर्त्त बना दिया था, जिसके कारण वह अपने पुत्र से वचित हुई थी और जिससे उसे यह बोध हुआ था कि वेश्या स्वतत्र नारी होती है। इसके साथ ही वह यह बात भी नही भूली थी कि पृथुसेन ने उसे कितनी निष्ठुरता के साथ प्रतारित किया था। वह अन्त में मारिश को अपना सकी, क्योकि वह सुख-दुःख की अनुभूति के आदान-प्रदान में विश्वास करती थी और ऐसा करने के लिए मारिश तत्पर था। वह पुरुषत्व का अर्पण चाहती थी और नारीत्व को अर्पित करना चाहती है। आरभ की भीरु दिव्या अन्त मे आकर प्रगल्भ हो जाती है और उसका आत्म-विश्वास उसे मार्ग अन्वेषित करने मे सहायता देता है। चारित्रिक विकास की दृष्टि से दिव्या का पात्र बहुत ही सफल है।

दिव्या से ठीक विपरीत पात्र है सीरो का जो अपने समग्र रूप मे छल-प्रपच के कर्दम मे सनी हुई प्रतीत होती है। सत्ता ही उसके जीवन का लक्ष्य है और भोग ही उसकी अभिलाषा है। इन दोनो की प्राप्ति के लिए वह कुछ भी कर सकती है। उसके पास न तो कोई आदर्श है और न तो कोई आचार-विचार। पुरुष रूपी खूँटे में बँधकर रहना वह नारी की दुर्बलता समझती है। जिससे भी तृप्ति मिल जाए, उसी की ओर अभिमुख हो जाने मे ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। मल्लिका

के व्यक्तित्व को लेखक ने महिमा-मंडित और प्रभावशाली बनाने का यत्न किया है तथा रत्नप्रभा का व्यक्तित्व भी गौरव सम्पन्न है।

पुरुष पात्रो मे पृथुसेन के चरित्र को जिस रूप मे उभारा गया, उस रूप में उसका विकास नही हो सका। लेखक ने उसे शौर्य की प्रतिमूर्ति के रूप मे चित्रित किया है, किन्तु आगे चलकर वह अपने पिता प्रेस्थ का क्रीडा-कौतुक ही सिद्ध होता है और सीरो के सामने अस्तगत सूर्य के समान निष्प्रभ हो जाता है। उसमे वह चरित्रिक गरिमा भी नही है, जिसकी अपेक्षा उसके जैसे पात्र से की जा सकती है। इसी कारण उसका उदय और अस्त दोनो आकस्मिक ही सिद्ध होते है। पृथुसेन की तुलना मे रुद्रधीर का चरित्र और व्यक्तित्व दोनो अधिक प्रभावशाली है। उसमे चारित्रिक गरिमा भी है। उसमे वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना की जो छटपटाहट है, वह उसे निरन्तर क्रियाशील बनाए रखती है और दासपुत्र पृथुसेन के प्रति जो प्रतिहिंसा की भावना है, वह निरन्तर जागरूक बनाए रखती है। फलतः वह अपने प्रयत्न मे आप्तकाम ही सिद्ध होता है। उसमे पृथुसेन की तुलना मे अधिक सवेदनशील हृदय है। वह दिव्या के प्रति जो प्रेम-भाव रखता है, वह उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित है। जहाँ उसके चरित्र मे औदात्य है, वहाँ पृथुसेन के चरित्र मे औद्धत्य है। उसका चरित्र जिस गुरुता से सम्पृक्त है, पृथुसेन का चरित्र उसका स्पर्श भी नही कर सकता। अन्य पुरुष पात्रो मे मारिश का पात्र अधिक गत्यात्मक और प्रभावशाली है। लेखक ने उसे अपने सिद्धान्त-पक्ष के निरूपण का साधन बनाया है। उसके माध्यम से ही उसने धार्मिक, सामाजिक विषमताओ पर प्रहार किया है। उसके चरित्र मे भी एक विशेष प्रकार का औदात्य है, जिसके कारण उसके सम्पर्क मे आने वाला व्यक्ति उसकी ओर खिचता जाता है। स्पष्ट वक्ता होने के कारण उसमे एक प्रकार का औद्धत्य लक्षित होता है, किन्तु वह औद्धत्य केवल वाणी का औद्धत्य है, स्वभाव का नही। वह स्वभाव से ऋजु और निष्कपट है। यही कारण है कि दिव्या उसके आकर्षण से मुक्त न हो सकी और अत मे उसी का आश्रय ग्रहण कर सकी।

इस उपन्यास का वैचारिक धरातल बहुत ही पुष्ट है। लेखक ने जीवन के वैषम्य की ओर सकेत ही नही किया है, वरन् उन पर कसकर प्रहार किया है। धार्मिक और सामाजिक रूढियो-मान्यताओ को उसने व्यग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है और उनकी निरर्थकता की ओर सकेत कर दिया है। जन्म के आधार पर श्रेष्ठता की भावना पर प्रहार करते हुए लेखक पृथुसेन से कहलाता है—'जन्म का अपराध ? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सभव है ? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नही कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नही कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले ?...

या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिए जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है ?—हीन कहे जाने वाले कुल मे मेरा जन्म अपराध है ? अथवा द्विज कुल मे जन्मे अपदार्थ लोगो का अहकार ?' जातिगत श्रेष्ठता की भावना पर लेखक ने केवल प्रहार ही नही किया है, वरन् यह सकेत भी किया है कि यह श्रेष्ठता की भावना मूलरूप मे द्विज वश का अह भाव है, जिसकी आड में द्विज वश अन्य वर्ग को शासित और अभिभूत करता है ।

परलोक की भावना पर प्रहार करते हुए मारिश कहता है—"मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी दासता है । तू स्वामी के भोग के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता है । तू सकट से पलायन कर रक्षा चाहता है, यही तेरी निर्बलता है । सकट सब स्थान और समय मे तेरे साथ रहेगा । सकट का पराभव कर । पराभूत होना ही पाप है । उसका फल तू तत्काल भोगेगा । तू स्वतत्र 'कर्ता' है । स्वतंत्रता अनुभव करना ही जीवन है । पराभूत सजीव होकर भी मृत है । निर्भय हो ! जीवन के लिए युद्ध कर ! मृत्यु भय का अन्त है । जीवन मे उत्तेजित हो ! कायर मत बन !" वस्तुतः यह मारिश का जीवन-दर्शन है । वह अप्रत्यक्ष को कोई महत्त्व नही प्रदान करता, प्रत्यक्ष ही उसके लिए सब कुछ है । जीवन के सकट से पलायन वह कायरता समझता है और परलोक की भावना को शोषण का कवच । उसकी दृष्टि मे मनुष्य की स्वतत्रता सर्वोपरि है । बन्धन स्वनिर्मित है । यदि मनुष्य कायर न बने और साहस के साथ आगे बढे तो वह स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है । मारिश की दृष्टि मे कर्म-फल का विधान भीषण आडम्बर है, शोषण का एक तरीका है ।

पुरुष के लिए नारी भोग्य है, केवल भोग्य है। दयिता, पत्नी, प्रेयसी, जननी सबसे परे वह केवल भोग्या है, भोग का उपकरण मात्र है । विषम परिस्थिति मे फँसी दिव्या अपनी धात्री से कहती है—"नारी है क्या ? माताल वृक ठीक ही कहता है अम्मा ! धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक नारी के लिए सब समान हैं । जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही ।" यह कितना कटु यथार्थ है । आज के अति विकसित जीवन में भी समान अधिकार की बात करने वाली नारी व्यावहारिक धरातल पर भोग्या ही है । पुरुष की दृष्टि बदली नही है ।

भाग्य और कर्म-फल के प्रसंग पर अपनी व्याकुलता व्यक्त करते हुए मारिश कहता है—'भाग्य और कर्मफल से क्या अभिप्राय ? भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान !' वस्तुतः मनुष्य अपनी विवशता और अज्ञान के कारण ही अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और उन्हें

भाग्य तथा कर्मफल के नाम देकर चुप बैठ जाता है। इस उपन्यास मे अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने मे लेखक यथेष्ट रूप मे सफल रहा है। उसका सारा प्रयत्न सहज-स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इसके मूल मे एक तो उस काल की कथावस्तु है, जिस पर अभी तक यथेष्ट प्रकाश नही पडा है और दूसरी ओर ऐसे पात्रो का चयन है जो लेखक की विचारधारा के सहज वाहक बन गए है। मारिश ऐसा पात्र है, जिसके माध्यम से लेखक को अपनी विचार-धारा व्यक्त करने का सुभीता अधिक मात्रा मे प्राप्त हो सका है। वैचारिक दृष्टि से इस उपन्यास का अपना विशेष महत्त्व है। जीवन और जगत् की अनेक समस्याओ को लेखक ने अपनी दृष्टि से देखने का सफल प्रयत्न किया है।

लेखक की शैली ऐतिहासिक उपन्यास के उपयुक्त है। भाषा-प्रयोग मे भी उसने पूरी सावधानी दिखाई है, किन्तु भाषा में सहज प्रवाह नही आ सका है, कृत्रिमता लक्षित हो जाती है। कल्पना-प्रवणता होने के कारण लेखक के लिए बहुत ही अच्छा अवसर रहा है और यदि वह चाहता तो भाषा का बहुत ही समजस प्रवाह निर्मित कर सकता था, किन्तु भाषा-प्रयोक्ता के रूप मे वह अधिक सफल नही रहा है। औपन्यासिक शिल्प-विधि की दृष्टि से यह उपन्यास सफल है। कथावस्तु और वातावरण-निर्माण मे उसने पूरी कुशलता का परिचय दिया है और चरित्र-निर्मिति की दृष्टि से भी वह अधिक सफल है। समग्र रूप से देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ऐतिहासिक उपन्यास के रूप मे दिव्या एक सफल कृति है।

बाणभट्ट की आत्मकथा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह प्रथम औपन्यासिक कृति है। द्विवेदी जी ने इसे बाणभट्ट की कथा न कहकर आत्मकथा कहा है। उनके इस कथन का विशेष महत्त्व है। यह केवल इतना ही नही है कि आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है, वरन् लेखक की दृष्टि मे यह आत्मकथा है, पूर्णतया अभिनव प्रयोग है। इसमें कोई संदेह नही कि लेखक ने 'कथामुख' और 'उपसहार' को सप्रत्ययात्मक रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और पाठको के समक्ष इस कथानक को इस रूप मे योजित किया है मानो लेखक ने किसी पुरानी कथा को ही किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दी मे प्रस्तुत भर कर दिया है, जिसमे मात्र टिप्पणियाँ उसकी हैं और सारी कथा पूर्व लिखित है। यथार्थ का आभास प्रस्तुत करने के लिए ही लेखक ने ऐसा किया है, क्योकि ऐसा करने से ऐतिहासिक परिवेश की निर्मिति मे उसको यथेष्ट साफल्य प्राप्त हुआ है और केवल इसी दृष्टि से यह अभिनव प्रयोग है, अन्यथा आत्मकथात्मक शैली मे लिखा गया एक ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण यह ऐतिहासिक उपन्यास-परम्परा मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कडी के अतिरिक्त और किसी भी रूप मे विलक्षण नही कहा जा सकता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कहना सत्याभास की प्रस्तुति का प्रयास भर है, क्योकि सुविज्ञ पाठक इसे ऐतिहासिक उपन्यास के अतिरिक्त और किसी दूसरे रूप मे ग्रहण नही कर सकते। यह प्रश्न ही उपस्थित नही होता कि पाठक इसे बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप मे स्वीकार कर ले। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास की अभिव्यंजना-शैली और भाषा-प्रयोग के माध्यम से यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि यह आत्मकथा 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' की ही परम्परा मे आती है। इसे साहित्यिक भ्रांति की निर्मिति का प्रयत्न कहा जा सकता है, परन्तु इससे यह स्थापित नही किया जा सकता कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को सामान्य तथा विशिष्ट पाठक बाणभट्ट की आत्मकथा समझने की भूल करेगे। 'कथामुख' और 'उपसहार' मे लेखक ने जिस कौशल को अपनाया है, वह प्रायोगिक दृष्टि से भले ही सफल हो, पर प्रभाव की दृष्टि से कोई

विशेष महत्त्व नही रखता और जहाँ तक अभिव्यजन-प्रणाली एव भाषा-प्रयोग का प्रश्न है, यह सहज रूप मे कहा जा सकता है कि अनेक प्राचीन साहित्यिक उक्तियो की छाया से गर्भित वह शत प्रतिशत द्विवेदी जी की वस्तु है । उनका व्यक्तित्व धूमिल नही पडा है और अपनी वर्णना मे वे निरपेक्ष नही हो सके हैं । अतः हम निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर आ सकते है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम्ना आत्मकथा है, परन्तु विषय और तत्त्व की दृष्टि से आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है ।

यथार्थभास की प्रस्तुति के लिए लेखक ने कथामुख मे लिखा है—शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरो मे लिखा था—'अथ बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख्यते' । 'आत्म-कथा लिख्यते' अन्य पुरुषात्मक होने के कारण यथार्थ के आभास को झुठला देता है और इससे यह स्पष्ट सकेत मिल जाता है कि किसी अन्य व्यक्ति (स्वयं पात्र नही) के द्वारा लिखित कथावस्तु आत्म-कथा न होकर कथा, जीवनी, कहानी या और कुछ हो सकती है । अतः यथार्थ के आभास के लिए तथाकथित प्राप्त पाडुलिपि मे इस प्रकार के शीर्षक को लाकर लेखक ने स्वयं यथार्थाभास को भग कर दिया है ।

'बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तको की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है,' लेखक ने इस ओर सकेत इसीलिए किया है, जिससे पाठको को यथार्थ की भ्राति हो जाए; परन्तु जिस रूप मे इस उपन्यास का अत होता है, वह अस्वाभाविक नही है; वरंच इस प्रकार के अन्त से इसका प्रभाव और गहरा गया है ।

लेखक ने साहित्यिक जाँच के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'कादम्बरी' की शैली मे ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आँखो का प्राधान्य इसमे भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है—रूप का, रग का, शोभा का, सौंदर्य का इसमे भी जमकर वर्णन किया गया है, पर इतने से ही साहित्यिक जाँच समाप्त नहीं हो जाती । कथा को ध्यान से पढने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नही है । कथा बहुत कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है । ऐसा जान पडता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती है वैसे-वैसे लेखक उन्हे लिपिबद्ध करता जा रहा है । जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है वहाँ वह जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ जाता है वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है । अंतिम उच्छ्वासो में तो वह जैसे अपने ही मे धीरे-धीरे डूब रहा है ।[1] जहाँ तक 'कादम्बरी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की शैली के साम्य का प्रश्न है, यह बात सहज रूप में

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, उपसंहार, पृ० ३०५ ।

कही जा सकती है कि यह सफल अनुकृति है, और द्विवेदी जी की प्रतिभा के योग के कारण अनुकृति जैसी प्रतीत नही होती, वरन् हिन्दी जगत् मे अपनी नव विच्छित्ति के कारण अभूतपूर्व एव रमणीयक प्रतीत होती है । इसके अतिरिक्त यह कहना कि यह कथा बहुत कुछ 'डायरी' शैली मे लिखी गई है, अपने आप मे भ्रामक है । इसकी कथा सुगठित और सुनियोजित है । कथा मे जहाँ-कही मथरता है अथवा क्षिप्र-चटुल प्रवाह है, उसका उत्तरदायित्व लेखक की मनोभूमि पर डाला जा सकता है और अतिम उच्छ्वासो मे कथा की समाप्ति के लिए लेखक की छटपटाहट है । कथा-प्रवाह के अविच्छिन्न निर्वाह के लिए अपार धैर्य आवश्यक होता है, परन्तु अधिकाश लेखक अत तक पहुँचते-पहुँचते उतावले हो जाते है, इस कारण वे अपनी कथा की परिसमाप्ति को समजस व्यवस्था नही दे पाते । द्विवेदीजी भी अतिम उच्छ्वासो मे धैर्य का परिचय नही दे सके है । ऐसा प्रतीत होता है कि उनमे कथा को समाप्त कर देने की बेचैना है । सभव है इसका कुछ दायित्व 'विशाल भारत' के सम्पादक पर भी हो । अतः उपसहार मे द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का प्रत्याख्यान कर यह सहज रूप मे सिद्ध किया जा सकता है कि यथार्थ का आभास खोखला पड गया है और सहृदय पाठक इसे बाणभट्ट की आत्म-कथा के रूप मे न स्वीकार कर द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत बाणभट्ट की आत्म-कथा के रूप मे ही ग्रहण करेगे, जिसमे उनका यथेष्ट आत्म-निवेशन है और इस आत्म-निवेशन के माध्यम से उन्होने बाणभट्ट से तादात्म्य ही स्थापित नही किया है, अपितु उनकी भूमिका को अपना कर उन्ही की आँखो से निखिल विश्व को देखने की चेष्टा की है । अत. इस आधार पर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कहने मे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही होगी ।

आलोचक एक प्रश्न और उठाते है कि यह प्राचीन आख्यायिका की शैली मे लिखा गया उपन्यास है । सस्कृत मे गद्य से युक्त वह रचना आख्यायिका कही जाती है, जिसके शब्द, अर्थ और समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य हो तथा जिसमे उच्छ्वास हो । उसमे नायक अपने घटित चरित्र को स्वय कहता है, समय-समयपर भावी घटनाओ के सूचक वक्त्र तथा अपवक्त्र (दोनो छद प्रकार) रहते हैं । वह कवि (कथाकार) के अभिप्राय विशिष्ट किन्ही कथनो से चिह्नित तथा कन्याहरण, युद्ध, प्रेमियो के वियोग और अभ्युदय से समन्वित रहती है ।[1] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के स्वरूप मे आख्यायिका के लक्षण के कतिपय तत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होते है : यह गद्यमयी रचना तो है ही, इसका कथानक उच्छ्वासो मे विभक्त है, इसका कथानायक अपने घटित चरित्र को स्वय कहता है और इसमे कन्याहरण, युद्ध, वियोग, अभ्युदय आदि भी यथास्थान अकित है । लेखक की

---

१. काव्यालंकार, १, २५-२८ ।

आलंकारिक अभिव्यंजन-शैली भी आख्यायिका के अनुकूल ही है। द्विवेदी जी ने इस आख्यायिका-शैली को साभिप्राय अपनाया है। प्राचीनता की आभास-निर्मिति के लिए ऐसा किया गया है, किन्तु इस रचना का स्वरूप इतना अधिक औपन्यासिक है कि किसी को यह भ्रम भी नही हो सकता कि यह आख्यायिका-शैली मे लिखा गया है।

आत्मकथात्मक उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का प्रश्न अत्यन्त जटिल रहता है और प्रधानतः प्रधान पात्र जो स्वय कथा कहता है,उसके चारित्रिक विकास को अकित कर सकना अतिरिक्त कला-कौशल पर निर्भर करता है। इस प्रकार के उपन्यास मे लेखक सर्वज्ञता की शैली को नही अपना सकता और अपने चरित नायक के सम्बन्ध मे अपनी ओर से कुछ भी कहने का अवसर नही निकाल सकता। उसके चरित्र पर प्रकाश डालने के उसके साधन सीमित ही सिद्ध होते है। उसके निजी क्रिया-कलाप, अन्य पात्रो के साथ उसके व्यवहार तथा उसके सम्बन्ध मे अन्य पात्रो की प्रतिक्रियाएँ ये ही साधन है, जिनसे वह अपने चरितनायक के चरित्र को आलोकित कर सकना है। आत्मकथात्मक उपन्यास में सर्वदा एक खतरा रहता है, या तो चरितनायक का अवमूल्यन हो जाता है या तो अतिमूल्यन, किन्तु सामान्य रूप मे अतिमूल्यन के स्थान पर अवमूल्यन की सभावना अधिक रहती है। आचार्य द्विवेदी जी ने पूरे कौशल और सजगता के साथ बाणभट्ट के चरित्र को उरेहा है। फलतः अवमूल्यन और अतिमूल्यन के खतरो से बचकर चरित्र का अत्यन्त स्वाभाविक विकास हो सका है। बाणभट्ट अपने बारे मे जब स्वय कुछ कहता है, तो उससे उसका चरित्र अवमूल्यित रूप मे हमारे सामने आता है, परन्तु उसके क्रिया-कलाप से पाठको का भ्रम दूर हो जाता है। पाठक यह विश्वास करने के लिए विवश हो जाते है कि बाणभट्ट सहज मानवीय सकोच के कारण अपने आपको अवमूल्यित रूप मे प्रस्तुत कर रहा है, अन्यथा वह एक ऐसा पात्र है जिसकी अपनी मर्यादा है, जिसके अपने सस्कार हैं और जिसकी रुचियाँ परिष्कृत हैं। 'मैं स्त्री-शरीर को देव-मदिर के समान पवित्र मानता हूँ', जो इस रूप मे सोच सकता है, उसका चरित्र कितना उदात्त होगा। नारी-मन मे उसके प्रति जो सहज श्रद्धा-भाव एव विश्वास-भाव जागरित होता है, उसके मूल मे उसके चरित्र का औदात्य है जो उसकी कथनी मे नही है बल्कि करनी मे है। निपुणिका ने अपने आपको बाणभट्ट के लिए समग्र भाव से उत्सर्जित कर दिया, इसके मूल मे उसका पौरुष एवं उसका शारीरिक सौंदर्य नहीं है, वरन् उसका मनः सौंदर्य है। वह नारी के प्रति जो सहज निरपेक्ष भाव रख पाता है, वह अयस्कान्त के समान नारी पर असीम प्रभाव डालता है और उसे अपनी ओर खीच लेता है। उसके कारण ही निपुणिका अपने भाव-सुमनो से उसे नीराजित करने के लिए समुत्सुक थी और उसी कारण से उज्जयिनी की गणिका मदनश्री भी पराभूत हो मन ही मन उसे प्यार

करने लगी थी । इतना ही नही, वरन् भट्टिनी का सयमशील मन भी अनायास ही उसकी ओर ढरक गया था । निपुणिका की दृष्टि मे बाणभट्ट पृथ्वी पर शरीरधारी देवता है और भट्टिनी की दृष्टि मे अपर कल्पकवि कालिदास । अन्य जिन नारी पात्रो के सम्पर्क मे वह आया है, प्रायः सभी उसकी ओर श्रद्धा-भाव से झुके हैं और उसमे ऐसा कुछ पाया है जो सामान्य स्थिति मे पुरुषो मे दुर्लभ होता है ।

बाणभट्ट मे स्वाभिमान की आँच है, जिसमे किंचित् औद्धत्य भी मिला हुआ है । कुमार कृष्णवर्धन के साथ वह जिस निर्भीकता और औद्धत्य से बात कर सका, वह उसके चरित्र के दूसरे पक्ष को उद्घाटित करता है । उससे यह प्रतीत होता है कि जीवनानुभव मे वह कितना कच्चा है । भट्टिनी के मुक्ति-प्रकरण मे उसने जिस साहस का परिचय दिया था, उसका अत्यन्त भीषण परिणाम भुगतना पड सकता था । कुमार कृष्णवर्धन के समक्ष औद्धत्य प्रदर्शित कर उसने अपने अपराध को द्विगुणित कर लिया था । यह तो वस्तुतः कुमार का सौजन्य था कि उसने बाणभट्ट की निर्भीकता की प्रशसा ही नही की, वरन् यहाँ तक कहा—'मैंने आज से पहले तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को क्यो नही देखा, यही सोच रहा हूँ ।'

अघोर भैरव की दृष्टि मे भण्ड और भीरु होते हुए भी बाणभट्ट धीरे-धीरे उन्हे प्रिय लगने लगा था । यह असल मे उसके आन्तरिक गुण का परिणाम था । लेखक ने इस केन्द्रीय पात्र का गठन पूरी सतर्कता से किया है और उसके चरित्र को अनेक पक्षो से आलोकित किया है । इसमे कोई सदेह नही कि बाणभट्ट आदर्श पात्र है, किन्तु है मनुष्य और लेखक ने उसके उस मनुष्य-रूप को उसकी समस्त सबलता-दुर्बलता के साथ अकित कर दिया है । वह भी हाड-मास का पिंड है । उसमे भी राग तत्त्व अपने पूर्ण विकास के साथ है । यह कहना कि निपुणिका उसके प्रति प्रेमार्द्र थी और वह निरपेक्ष-अनसक्त था, अपने आप मे भूल होगी । निपुणिका के प्रति उनका मोह इससे ही प्रतिभासित हो उठता है कि निपुणिका के आकस्मिक अन्तर्धान के कारण उसने नाट्य मडली तोड डाली और अपने नाटक की पाडुलिपि शिप्रा की क्षिप्र चटुल तरंगो को भेट कर दी । निपुणिका की मृत्यु के पश्चात् बाणभट्ट के कानो मे ये शब्द गूँजते रहे—'मैंने कुछ भी नही रखा, अपना सब कुछ तुम्हे दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया । दोनो मे कोई विरोध नही है । प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाएँ एकसूत्र हो गई है !' बाणभट्ट कितनी गहराई से इस मर्मतुद वेदना को अनुभूत करता है । निपुणिका के नारी-सुलभ सहज ज्ञान ने बहुत पहले उसे यह बोध करा दिया था कि भट्टिनी और बाणभट्ट दोनो एक दूसरे के आकर्षण केन्द्र मे अनजाने ही आ गए है और दोनो एक दूसरे की ओर अज्ञात रूप मे बढते जा रहे है । उन्माद की अवस्था मे सहज ईर्ष्यावश उसने भट्टिनी से कहा था कि गंगा की धारा में

भट्टिनी इसलिए कूद पडी थी कि उसे पूर्ण प्रत्यय था कि बाणभट्ट उसे डूबने नही देगा और बाणभट्ट अपने अन्तर्मंथन से भी इसी निष्कर्ष पर आया था कि वह किसी भी रूप मे भट्टिनी को डूबने न देता, क्योकि भट्टिनी के सहज आकर्षण से वह बँध चुका था और भट्टिनी भी मुक्त नही थी। उसके सहज आभिजात्य और कौलीन्य ने तथा बाणभट्ट की सहज संकोच भावना ने इस अन्तर्व्यापिनी मृदुल भावना को अभिव्यक्ति के स्तर पर आने से रोके रखा। इसीलिए निपुणिका ने वासवदत्ता की भूमिका मे बाणभट्ट को रत्नावली को सौंप कर मानो प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाओ को एकसूत्र कर दिया। भट्टिनी के प्रति बाणभट्ट की भावना कितनी उद्दाम थी, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि उसके पुरुषपुर के प्रस्थान की बात सुनकर भट्टिनी ने व्याकुल होकर कहा था—'जल्दी ही लौटना।' परन्तु बाणभट्ट की अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा—'फिर क्या मिलना होगा ?' लेखक का कथन है कि इस कथा मे सर्वत्र प्रेम की व्यजना गूढ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है, अपने समग्र रूप मे सही है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनो प्रधान नारी पात्र है। लेखक ने दोनो पात्रो को सहज सहानुभूति के साथ अकित किया है। उनके बाह्य और आन्तरिक सौदर्य को अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे चित्रित किया है। इस उपन्यास मे आए हुए समस्त नारी पात्र लेखक की करुणा स्रोतस्विनी के अन्तराल मे अपने अस्तित्व पाकर भास्वर हो उठे है। चाहे निपुणिका हो, चाहे भट्टिनी, चाहे सुचरिता हो चाहे महामाया, चाहे मदनश्री हो, चाहे चारुस्मिता, द्विवेदी जी ने सबको नारी-गरिमा से अलकृत रूप मे ही प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी की दृष्टि मे नारी त्यागमयी है, श्रद्धामयी है और पुरुष के जीवन की पूरक है। किन्तु विडम्बना यह है कि वह समाज मे चिर उपेक्षित, तिरस्कृत और अवमानित है। चाहे रानी हो, चाहे दासी हो, चाहे कुलागना हो, चाहे वारागना हो, सभी विवश है। सभी पुरुष के हाथ के क्रीडा-कौतुक है, सभी अभिशप्त है। प्रकृति ने नारी को कोमल-मसृण बनाया है, वह ब्रह्मा की अनुपम सृष्टि है, परन्तु समाज ने उसके जीवन को अभिशप्त बना दिया है, उसकी शोभा, उसकी कोमलता को दलित—लुठित किया है और उसे निदारुण यातनाएँ दी हैं। यही भट्टिनी की दशा है, यही निपुणिका की। इससे विलग न तो सुचरिता है और न तो महामाया। मदनश्री और चारुस्मिता के जीवन की कहानी भी इससे भिन्न नही है। सच पूछिए तो लाख-लाख ललनाओ की यही करुण कहानी है। वस्तुतः यह द्विवेदी जी की लेखनी का चमत्कार है कि उन्होने इस उपन्यास मे आए हुए नारी पात्रो को अपूर्व गरिमा से भर दिया है। निपुणिका और भट्टिनी के निर्माण मे उन्होने पूरे कौशल से काम लिया है तथा उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना, क्रिया, प्रतिक्रिया आदि को व्यक्त कर उन्हे पूर्णतया

जीवन्त बना दिया है। महामाया और सुचरिता के निर्माण मे भी उन्हे यथेष्ट साफल्य प्राप्त हुआ है।

नारी-पात्रो के अतिरिक्त पुरुष पात्रो के निर्माण मे भी लेखक ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। प्राय: प्रत्येक पात्र अपने वैशिष्ट्य का प्रतीक है। अघोर भैरव को तान्त्रिक साधना के सिद्ध पुरुष-रूप मे अत्यन्त प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किया गया है। उसमे तेजस्विता है, तिग्मता है और साथ ही अजस्र करुणा का अन्तर्वर्ती प्रवाह है। वस्तुत: उसका वैशिष्ट्य उसे अन्यो से विलक्षण सिद्ध कर देता है। आचार्य सुगत भद्र को सौम्य रूप बहुत ही आकर्षक है। उसमे जो तेज है, जो प्रभा-पुज है और निखिल मानव-जाति के प्रति जो करुणा की भावना है, वह सब हृदयावर्जक, शामक और अत्यन्त महनीय है। कुमार कृष्णवर्धन का निर्माण लेखक ने पूरी कुशलता से किया है। वह एक साथ ही शूरवीर, साहसी, दक्ष और प्रखर राजनयिक सिद्ध होता है। उसके व्यक्तित्व और व्यवहार मे जो सहज शालीनता है, वह उसे और भी आकर्षक बना देती है। लोरिकदेव, विरतिवज्र आदि पात्रो की निर्मिति मे भी लेखक ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। चडी मदिर के पुजारी को अतिरजित रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इस कारण वह किंचित् अविश्वास्य-सा प्रतीत होता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अधिकाश पात्र आदर्शीकृत ढाँचे मे निर्मित हैं, उनमे स्थिरता की तुलना मे गत्यात्मकता कम है। केवल निपुणिका और सुचरिता के चरित्र मे अपेक्षाकृत गत्यात्मकता अधिक है। उपन्यास के आत्मकथात्मक होते हुए भी बाणभट्ट के चरित्र के प्राय: समस्त वैशिष्ट्य उभर कर सामने आ सके हैं, इसी में इस उपन्यास की सफलता निहित है।

इस उपन्यास की अधिकारिक कथावस्तु बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी से सम्बद्ध है और अपने स्वरूप मे छोटी भी है, किन्तु इस कथावस्तु से सम्बद्ध अन्य अवान्तर कथाएँ भी इसमे है जो आधिकारिक कथा को पोषित करती हैं। अघोर भैरव और महामाया की कथा, विरतिवज्र और सुचरिता की कथा, नर्तकी मदनश्री की कथा, वाभ्रव्य और यशोवर्मा की कथा आदि ऐसी कथाएँ है जो प्रधान कथानक मे नए मोड लाती है और उसे और अधिक मार्मिक बनाती है। समस्त कथाओ को लेखक ने इस रूप मे सग्रथित किया है कि ऐसा प्रतीत ही नही होता कि अवान्तर कथा का प्रकरण आ गया है, वरच ऐसी प्रतीत होता है कि मूल कथानक के अविभाज्य अग-रूप मे ही वह उन्मीलित हो उठी है। यह वस्तुत: लेखक का रचना-कौशल है कि उसने छोटे से कथानक को कल्पना के रग से अत्यन्त सजीव और आकर्षक चित्र का रूप दे दिया है। ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण इसकी आधिकारिक कथा-वस्तु का मूल आधार ऐतिहासिक है। बाणभट्ट, श्रीहर्षदेव, कुमार कृष्णवर्धन, राजश्री,

यशोशर्मा, धावक और भर्वुपाद ऐतिहासिक पात्र तथा देवपुत्र तुवर मिलिन्द भी ऐतिहासिक पात्र है। लेखक ने 'हर्षचरित' के प्रथम तीन उच्छ्वासो के आधार पर बाण-भट्ट का निर्माण किया है, किन्तु मूल कथानक उसकी निजी कल्पना है, जिसके माध्यम से उन्होने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक जीवन को रूपायित करने का प्रयत्न किया है। लेखक की वर्णना-शैली कथानक के अविच्छिन्न प्रवाह मे बाधक सिद्ध हुई है। लेखक जब सौदर्य का वर्णन करने लगता है तो उपमानो की झडी लगा देता है। चाहे नारी-सौदर्य का चित्रण हो और चाहे प्रकृति-सौंदर्य का, वह उसमे इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि यह भूल ही जाता है कि कथानक का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। इसके अतिरिक्त भी लेखक प्रसगो की खोज मे रहता ही है। कोई प्रसग मिला नही कि वह ले उडता है और उसके अनेक पक्षो को इस रूप मे उन्मीलित करने लगता है मानो उसे कथानक के प्रवाह की कोई परवाह नही है। समस्त उपन्यास मे इस प्रकार के प्रसंग भरे पडे हैं, जिन्होने कथानक के ऋजु सरल प्रवाह को बाधित किया है। यही कारण है कि पूरे उपन्यास मे एक प्रकार की मथरता है और क्षिप्र कार्यावस्था का अभाव हैं। उपन्यास के कथानक के कुछ अंश ऐसे भी हैं जो विश्वसनीय प्रतीत नही होते। जैसे—वज्रतीर्थ का समूचा वर्णन और धूम्रगिरि की घटना। धार्मिक अतिचार मे विश्वास रखने वाले भले ही इन प्रसंगो को स्वाभाविक रूप मे स्वीकार कर ले, किन्तु बुद्धि-विवेक सम्पन्न पाठक के लिए तो ऐसे प्रसग अविश्वास्य ही सिद्ध होगे। भले ही लेखक ने धार्मिक अतिचार को दिखाने के उद्देश्य से उन्हे प्रस्तुत किया हो, किन्तु प्रभाव-निर्मिति मे वे व्याघातक ही सिद्ध हुए है।

एक अपहृत बाला की संक्षिप्त कथा को लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण मे अत्यन्त भास्वर एवं हृदयावर्जक बना दिया है। सास्कृतिक पृष्ठभूमि को अत्यन्त सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया गया है। हर्षकालीन जीवन-चर्या, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा, धार्मिक ऊहापोह आदि का जितना सुन्दर परिचय इस औपन्यासिक कृति से प्राप्त किया जा सकता है, उतना सुन्दर परिचय तत्काल-सम्बद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थो के अनुशीलन से भी नही प्राप्त हो सकता। तत्कालीन समग्र जीवन का लेखक को इतना अधिक परिचय है कि वह उसे किसी न किसी रूप मे अभिव्यक्ति देने के लोभ को सवृत नही कर पाया है। परिणाम यह हुआ है कि अनेक स्थलो पर अनावश्यक विस्तार हो गया है और अकाड कीर्तन के कारण कथा का प्रवाह विच्छिन्न हो गया है। इस उपन्यास का वैचारिक धरातल बहुत ही ऊँचा है। वस्तुतः यह एक चिन्तन-प्रधान उपन्यास है, जिसमें अत्यन्त भास्वर विचार-कणिकाएँ आद्यन्त बिखरी पडी है। जीवन और जगत् के प्रति लेखक का अपना निजी मौलिक दृष्टिकोण है, जिसकी इस रचना में अत्यन्त

सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है'। लेखक ने अपनी इस रचना को भी इसी भावना से अनुस्यूत करने की चेष्टा की है और मानवीय धरातल पर नर-नारी के सम्बन्धो की व्याख्या प्रस्तुत की है। उसकी दृष्टि में नारी के सहयोग के बिना समस्त व्यवस्थाएँ चूर्ण-विचूर्ण हो जाएँगी और सैन्य-सगठन तथा राज-व्यवस्थापन सब फेन-बुद्बुद की भाँति विलुप्त हो जाएँगे। सारा ठाट-बाट ससार मे केवल अशाति पैदा करेगा। निषेध रूपा नारी का ब्रह्मा की सृष्टि मे बहुत बडा महत्त्व है। 'जहाँ कही अपने-आप को उत्सर्ग करने की, अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है, वह नारी है—निषेध रूपा नारी। जहाँ कही दुःख-सुख की लाख लाख धाराओ मे अपने को दलित द्राक्षा के सामान निचोड कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही 'नारी तत्त्व' है, या शास्त्रीय भाषा मे कहना हो, तो 'शक्ति-तत्त्व' है।' उन्होने वस्तुतः मुक्त कंठ से नारी-महिमा का स्तवन किया है। लेखक मानववादी विचारक है और इस उपन्यास मे आद्यन्त उसका मानववादी दृष्टिकोण मुखर है। वैचारिक धरातल पर यह बहुत ही सम्पन्न उपन्यास है। लेखक के विचार-स्फुलिंग पाठक की चेतना को झकझोर देते है और उसे जागतिक व्यवस्था और जीवन की विषमताओ पर विचार करने के लिए विवश कर देते है और अपने इसी वैचारिक धरारल पर लेखक आधुनिक है।

इस उपन्यास मे प्रेम प्रधान तत्त्व के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है, परन्तु पूरे उपन्यास मे आद्यन्त झिझक और लज्जा के झीने आवरण के कारण उसकी अभिव्यक्ति मुक्त रूप मे नही हो पाई है। लेखक ने अपनी झिझक और लज्जा भावना को अपने पात्रो पर आरोपित कर दिया है। फलतः बाणभट्ट, भट्टिनी और निपुणिका भाव-सभार को लज्जा के अवगुठन मे छिपाए ही रहते है और उनकी अन्तरालवर्तिनी भावनाएँ एक-दूसरे को स्पर्शित तो अवश्य करती हैं, पर छुईमुई के समान लजा कर मुड जाती है। सारा प्रेम-व्यापार गूढ और अद्दप्त भाव से प्रकट हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक मे इतना साहस नही है कि वह प्रेम-प्रवाह को निर्बाध भाव से प्रवाहित होने की छूट दे दे। परन्तु इसका एक परिणाम अच्छा हुआ है। प्रेम की व्यजना की गूढता ने उसमे ऐसा वैशद्य ला दिया है जो पाठको को अभिभूत कर लेता है और बाणभट्ट, भट्टिनी तथा निपुणिका के मनोव्यापारो की व्यजना के लिए लेखक को अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति के लिए द्विवेदी जी ने हिन्दी मे कुछ सीमा तक 'कादबरी' की शैली की अवतारणा की है। इससे हिन्दी की अभिव्यजना-शक्ति बढी है, इसमे कोई सदेह नही, किन्तु लेखक की अभिव्यजना-प्रणाली मे कृत्रिमता आ गई है, भाषा का सहज प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। शब्दों के प्रयोग मे भी एक प्रकार

की कृत्रिमता है। अनेक ऐसे शब्द आ गए है जो हिन्दी के सांचे मे ठीक ढग से नही बैठ पाते और लम्बी-लम्बी पदावलियाँ भाषा के प्रसन्न प्रवाह मे शैवाल-जाल के समान प्रतीत होती है। इतना सब होते हुए भी यह एक सफल आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

'चारु-चन्द्रलेख'

'चारु-चन्द्रलेख' द्विवेदी जी का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। यह उपन्यास भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही परम्परा मे आता है। किन्तु दोनो की शिल्प विधि मे किंचित् अन्तर है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आत्मकथा कहकर उन्होंने पाठको के सामने एक नया औपन्यासिक प्रतिमान प्रस्तुत किया है, पर 'चारु-चन्द्रलेख' मे ऐसा कोई प्रयास नही है। परन्तु लेखक ने स्वय इसमे दो बातें चिन्त्य देखी हैं— 'प्रथम तो यह है कि इस पूरी (या वस्तुतः अधूरी) कथा मे चन्द्रलेखा का लिखा अश बहुत कम है। बाकी अश जो राजा सातवाहन के मुख से कहलाया गया है, किस प्रकार सगत है, यह स्पष्ट नही होता। दूसरी बात यह है कि कथा मे अनेक प्रसगो में परवर्ती ग्रथो की चर्चा की गई है, एक दोहा तो 'बिहारी सतसई' का भी आ गया है। अरबी-फ़ारसी के शब्द भी प्रचुर मात्रा मे आए हैं।' पहले दोष के परिमार्जन के लिए लेखक ने अघोरनाथ के माध्यम से यह बात स्पष्ट की है पत्थर पर खुदी हुई बाते ही सत्य नही हाती, समाधिस्थ चित्त मे प्रतिफलित बाते भी इतनी ही सत्य होती है। इस कथन स यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यथार्थ का आभास देने के लिए ही लेखक ने उसे पत्थर पर खुदा होना दिखाया है, अन्यथा वह उसके समाधिस्थ चित्त मे ही प्रतिफलित हुई है और सामान्य पाठक को इसमे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही हो सकती। साहित्यिक भ्राति के समुपयोजन के होने पर भी पाठक इस तथ्य से भली भाँति परिचित रहता है कि समग्र रचना मे लेखक अपनी समस्त शक्ति और सीमा के साथ विद्यमान रहता है। जहाँ तक परवर्ती ग्रथो की चर्चा का प्रश्न है और अरबी-फ़ारसी के प्रचुर शब्दो का प्रश्न है, सहज रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक परिवेश की निर्मिति मे यह लेखक की असफलता है।

'चारु-चन्द्रलेख' शीर्षक से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि इस उपन्यास का प्रधान पात्र चन्द्रलेखा को होना चाहिए और स्वय उपन्यासकार ने भी इस बात को चिन्त्य माना है कि इसमे चन्द्रलेखा का लिखा अंश बहुत कम है। ऐसी स्थिति मे इस

शीर्षक का औचित्य क्या है ? भले ही इस उपन्यास मे चन्द्रलेखा का लिखा अश बहुत कम हो, पर इतना तो सरलता से कहा जा सकता है कि इसकी कथावस्तु मे आद्यन्त चन्द्रलेखा अन्तः सलिला सरस्वती के समान विद्यमान है और वह समस्त प्रमुख पात्रो की प्रेरणा-स्रोत भी है। राजा सातवाहन की इच्छा शक्ति तो है ही, विद्याधर भट्ट की क्रियाशक्ति मे उसका महत्तर योग है और मैन सिह (मैना—मदनवती) मे जो पु जीभूत शौर्य है, वह भी रानी चन्द्रलेखा से ही शाणित होता है। अतः इस उपन्यास का केन्द्र विन्दु वही है, जिसके चारो ओर कथा-वस्तु का प्रसार है और वही मूल आकर्षण-केन्द्र है, जिसकी ओर प्रायः सभी प्रमुख पात्र अपनी-अपनी इयत्ता के साथ अभिधावित होते है। उपन्यास का शीर्षक चन्द्रलेखा के नाम पर देकर लेखक ने केन्द्राभिसारी प्रवृत्ति की ही व्यजना की है।

यह उपन्यास भी आत्मनेपद मे लिखा गया है। आत्मनेपद मे लिखित उपन्यास की जो शक्ति और सीमा हो सकती है, वह इस उपन्यास मे भी है। प्रधानतः आत्मनेपद मे कहने वाले कथानायक के अतिमूल्यन अथवा अवमूल्यन की आशका रहती है। इस उपन्यास के चरितनायक का अन्य पात्रो की तुलना मे अवमूल्यन ही दृष्टिगत होता है और कतिपय स्थलो पर कथावस्तु का प्रवाह भी स्वाभाविक नही हो पाया है।

उपन्यासकार इस उपन्यास की कथा को भी दैनन्दिन शैली की ही कथा कहता है, क्योकि 'लेखक आगे घटने वाली घटनाओ से एकदम अपरिचित जान पडता है।' परन्तु उपन्यास की कथा सुनियोजित है, भले ही सामान्य रूप मे यह प्रतीत हो कि लेखक भावी घटनाओ से अपरिचित है, किन्तु रचना-कौशल को देखते हुए स्पष्ट रूप मे यह बात स्वीकार की जा सकती है कि घटना-क्रम पर उसका अधिकार है, वह घटनाओ के अधिकार मे नही है। वस्तुतः कथा-वस्तु के ताने-बाने को वह पूरे कौशल के साथ निर्मित करता है। यह बात अवश्य है कि इस उपन्यास की कथावस्तु मे बिखराव अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथा कहना बहाना मात्र है और तत्कालीन सास्कृतिक जीवन के सर्वा गीण चित्र को प्रस्तुत करना ही लेखक का मुख्य उद्देश्य है। अवान्तर प्रसंगो की उद्भावना करके लेखक ने मध्य एशिया और समस्त उत्तर भारत के जीवन की वैविध्यमय झाँकी प्रस्तुत कर दी है। फिर भी उसने कथा के अविच्छिन्न प्रवाह के प्रति अपनी सजगता दिखाई है। ऐसा करने के लिए उसे आकस्मिकताओं के माध्यम से कुतूहल का निर्माण करना पडा है और यह कुतूहल-निर्मिति इतनी हृदयावर्जक और आकर्षण है कि पाठक अनायास ही अवान्तर धाराओ मे निमज्जित हो जाता है, किन्तु फिर भी मूल प्रवाह के प्रभाव से बँधा रहता है।

इस उपन्यास का आधिकारिक कथानक राजा सातवाहन और रानी चन्द्रलेखा से सम्बद्ध है। उसी कथानक के केन्द्र के चारो ओर अन्य कथानक संग्रथित किए गए हैं

जो उसी की शाखा से प्रतीत होते हैं। मध्य एशिया के सास्कृतिक जीवन, के रूपायन के लिए लेखक ने सीदी मौला नामक पात्र को उद्भावित किया है और उसे आधिकारिक कथानक के साथ जोड दिया है। विद्याधर भट्ट, नाटी माता, अमोघवज्र, अक्षोभ्य भैरव, जल्लन आदि ऐसे पात्र है जो मुख्य कथा के अपरिहार्य अंग हैं, उनके कारण मुख्य कथानक में अनेक मोड आते हैं और साथ ही मुख्य कथानक का स्वाभाविक विकास भी होता है, किन्तु लेखक ने इन पात्रो के माध्यम से तत्कालीन जीवन के धार्मिक, सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक समस्त पक्षो को बहुत ही सूक्ष्मता से अकित किया है। इसमें कोई सदेह नही कि अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उसे कही-कही अति नाटकीयता अपनानी पडी है और कही-कही कृत्रिम साधनो से कथा-वस्तु को जोडा गया है; परन्तु लेखक की अभिव्यजना-प्रणाली इतनी सशक्त है और पाठक को अपने साथ बहा ले जाने की ऐसी अप्रतिहत शक्ति है कि पाठक कथा-प्रवाह मे बहता ही जाता है। नागनाथ और रानी चन्द्रलेखा के माध्यम से उपन्यासकार ने तांत्रिक-साधना के अत्यन्त अद्भुत और अविश्वसनीय पक्ष को प्रस्तुत किया है। कोटिवेधी रस के सम्बन्ध मे उसने मध्यकालीन अधविश्वासो का ऐसा रूपायन किया है कि पाठक उससे प्रभावित हो उठे, परन्तु प्रबुद्ध पाठक की दृष्टि मे अविश्वास बना ही रह जाता है। प्रत्यक्ष रूप मे लेखक ने चन्द्रलेखा की प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप मे उसे रखा है, जिसे चन्द्रलेखा ने भगवती विष्णुप्रिया की आज्ञा से लिपिबद्ध किया था; बाद मे लेखक स्वय उसे प्रत्यक्ष अनुभूति नही मानता, वरन् यह प्रतिपादित करता है कि 'अमोघवज्र ने उनके अन्तरतर की वासनाओ और कल्पनाओं की मानसिक उत्सारणा की थी।'[१] रानी स्वयं यह कहकर समस्त घटना को सदिग्ध बना देती है कि 'मैं ठीक कह नही सकती कि मैंने जो कुछ देखा है और जिसे भगवती विष्णुप्रिया की आज्ञा से लेखबद्ध किया है, उसमें कितना रहस्य है, कितना भाषा का खेल है, कितना कल्पित है, कितना तथ्य है। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि मैंने वही लिखा है जो मुझे प्रत्यक्ष दीखा है।'[२] चाहे जो कुछ हो, कथानक के इस अश के सम्बन्ध मे केवल इतना कहा जा सकता है कि यह संदिग्ध और अविश्वसनीय ही नही है, वरन् पूरे उपन्यास का सबसे दुर्बल पक्ष है। इसी प्रकार सीदी मौला ने भोट प्रदेश अथवा मगोलिया मे जो कुछ प्रत्यक्ष देखा था, वह भी इस उपन्यास का दुर्बल पक्ष है। इस प्रकार की घटनाओ की वर्णना के बिना भी लेखक अपनी रचना को सुन्दर रूप मे प्रस्तुत कर सकता था और यदि इस प्रकार के अभिचार आदि को दिखाना अभीष्ट था तो वह दूसरे प्रकार की शिल्प-विधि अपनाकर कर सकता

---

१. चारु चन्द्रलेख, पृष्ठ ३६५।

२. चारु-चन्द्रलेख, पृष्ठ २०७-२०८।

था। असभाव्य को भी सभाव्य रूप मे प्रस्तुत करने मे ही कला है, परन्तु यहाँ पर कला कला सिद्ध नही हो पाई है, क्योकि असंभाव्य असभाव्य और सदिग्ध ही रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार यह सकल्प लेकर चला है कि वह तंत्र, मंत्र, अभिचार आदि से सम्बद्ध तत्कालीन रूढियो और परम्पराओ को आकलित कर उन पर कठोरतम प्रहार करेगा। तत्कालीन भारतवर्ष मिथ्याडम्बरो, धार्मिक अधविश्वासो और अतिचारो की कुहेलिका में आकठ निमज्जित था। सामान्य जन-समूह सिद्धियो से प्रभावित-अभिभूत था। कर्म पर से लोगो का विश्वास उठ गया था और तत्र-मत्र के माध्यम से सिद्धि-प्राप्ति की भावना बलवती हो उठी थी। निठल्ले, चमत्कार-प्राण ढोंगी साधुओ को जनता ने अपना नेता मान लिया था। इतना ही नही, वरन् राजा-महाराजा आदि भी इस प्रकार के ढोंगी सिद्धो की सिद्धियो से चमत्कृत-अभिभूत थे। उनमें कर्तव्य-निर्धारण की शक्ति नहीं थी। धरती पर उनका विश्वास नही था, उनकी आँखे सदा आकाश की ओर रहती थी। उन्हे नक्षत्रो से प्रेरणा मिलती थी। तत्कालीन सारा वातावरण कुहेलिकाच्छन्न था। रानी चन्द्रलेखा कोटिबेधी रस के माध्यम से जरा-मरण से मुक्ति का उपाय खोजती थी और उसके माध्यम से ही जन-साधारण के दुःख-दैन्य को दूर करना चाहती थी। राजा सातवाहन में इतनी शक्ति नही थी कि वह रानी को ऐसे दुरतिक्रम्य पथ से विचलित कर सकता। विद्याधर भट्ट नक्षत्रो से विजय-पथ खोजते-खोजते दिग्भ्रमित हो गए थे। विषम स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति कुठित हो चुकी थी। उस युग का धर्मनेता भ्रांत था, साधु-सन्यासी भ्रांत थे, राजा भ्रात था और सामान्य जनता भी भ्रात थी। समग्र जीवन कलुषित और अभिशप्त था। चरित्र हीनतर सिद्ध हो चुका था और सारा समाज हतदर्प तथा हतवीर्य हो चुका था। लेखक ने अन्धकाराच्छन्न भारतीय जीवन के इतिहास में सातवाहन और चन्द्रलेखा के प्रकाश पुज को इस रूप मे प्रस्तुत किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अकर्मण्यता और परावलम्बन की कुहेलिका छट जाएगी और कुछ समय के लिए आकाश मे प्रकाश-पुंज लीलायित हो उठेगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक का सारा आयोजन अत्यन्त भास्वर और विराट् प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति मे लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः तत्कालीन इतिहास का उसे अत्यन्त सूक्ष्म परिचय है और उस युग के सांस्कृतिक जीवन के कण-कण को मानो वह पहचानता है। इस कारण सारा ऐतिहासिक परिवेश यथार्थ-सा प्रतीत होता है। कही-कही ऐतिहासिकता से विच्युति भी दृष्टिगत होती है। लेखक अनेक स्थानो पर अपनी वर्णना मे भी आधुनिक बन गया है : पचशील अधुनिक संदर्भ में ही विकसित है, जिसकी चर्चा इस उपन्यास मे है। वैसे पंचशील

की मूल भावना गौतम बुद्ध से सम्बद्ध की जा सकती है, परन्तु इसका अपने रूप मे प्रचलन आधुनिक ही है। प्रजा या जनता की शक्ति को महत्त्व प्रदान करना यह भी अपने मूल रूप मे आधुनिक है। इस उपन्यास मे उस काल का वर्णन है, जबकि मुसलमानो ने आरंभिक रूप मे अपनी सत्ता जमाई थी, उनकी भाषा आदि का अधिक प्रचार-प्रसार नही हुआ था। अतः अरबी-फारसी के शब्दो का निस्सकोच प्रयोग वातावरण की निर्मिति मे बाधक ही सिद्ध होता है। लेखक ने परवर्ती काल की कुछ प्रवृत्तियो को भी अभिव्यक्ति दी है, जिससे काल-दोष आ जाता है। 'कहियत भिन्न न भिन्न,' यह तुलसीदास की अभिव्यक्ति है, इसके प्रयोग के बिना भी काम चल सकता था। ऐतिहासिक उपन्यासकार को तथ्यो के आकलन मे समग्र रूप से ऐतिहासिक होना चाहिए। वह अपने निष्कर्षों मे आधुनिक हो सकता है। ऐसा करने पर वह दोषभागी नही माना जा सकता।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है राजा सातवाहन। अन्य पात्रो की तुलना में उसका चारित्रिक वैभव फीका पड जाता है। वह वीर है, साहसी है, निर्भीक है, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी निर्णय-शक्ति दुर्बल है। विद्याधर भट्ट की तेजस्विता, वाग्मिता एव कर्तव्यपरायणता से सामने वह दबा-दबा रहता है। वह स्वय यह अनुभव करता है कि राजा वह है, किन्तु उससे पूछे बिना ही विद्याधर भट्ट सारे निर्णय ले लेता है। उसे सूचना मात्र दे दी जाती है। तथापि विद्याधर भट्ट पर उसका अडिग विश्वास है। वह जानता है कि भट्ट जो कुछ करता है वह राज्य और राजा के हित के लिए ही। रानी चन्द्रप्रभा के सामने सभवतः वह कुठित हो जाता है, नही तो रानी के छदानुरोध को वह इस रूप मे स्वीकार न कर पाता। वह रानी को नागनाथ के अतिचारो मे सहभागिनी होने से रोक सकता था, पर रोक नही पाया; क्योकि उसकी किसी भावना को ठुकराना उसके बस की बात नही थी। राजा का जो दर्प होता है, उसका भी उसमे किंचित् अभाव प्रतिभासित होता है और यही कारण है कि छोटी-छोटी शक्तियो के सामने भी वह झुक जाता है। राजा का पात्र आद्यन्त इस रूप मे विकसित हुआ है मानो वह भट्ट पाद का क्रीडा-कौतुक हो, जिसे भट्ट अपनी इच्छानुसार कार्य-सम्पादन के लिए योजित करता है। राजा सातवाहन के चरित्र का जितना स्वतत्र विकास होना चाहिए था, उतना नही हो पाया है।

राजा सातवाहन की तुलना में विद्याधर का चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक धरातल पर हुआ है। उसमे सकल्प शक्ति ही नही है, वरन् भरपूर क्रिया-शक्ति है। वार्धक्य के कारण उसकी क्रिया-शक्ति क्षीण नही पडी है। उसकी दृष्टि बहुत ही भेदक है। सुदूर भविष्य के अन्तराल से भी वह सार वस्तु खोज लाती है। यद्यपि ज्योतिष में उसकी अगाध श्रद्धा है, किन्तु धीर शर्मा के समान वह ज्योतिष ही मे नही जीना चाहता। उसने यह अनुभव किया है कि नक्षत्रो की गणना करते-करते उसने अपना सारा जीवन

व्यतीत कर दिया, पर कार्य-सिद्धि कभी भी नही मिली। वह निरन्तर भटकता ही रहा। इसीलिए तुर्कों का सामना करने के लिए चम्बल-घाटी के अभियान के समय उसने नक्षत्रो को नही देखा, केवल अवसर को देखा और इसी कारण उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रकार की अप्रत्याशित विजय से उसका उत्साह विवर्धमान हो उठा और वह यह अनुभव करने लगा कि इसी प्रकार साहस और शक्ति का परिचय दे कर देश को विजातीयो-विदेशियो के चगुल से मुक्त किया जा सकता है। राजनीति, कूटनीति और रणनीति तीनो मे उसकी अच्छी गति थी और उनकी समस्त सूक्ष्मताओं मे वह पारगत था। उपन्यासकार ने अनेक स्थानो पर उसकी उक्त नीतियो की सफलता का सकेत किया है। विद्याधर भट्ट मे ऐसी आतरिक शक्ति थी कि उसके सामने आने पर तेजस्वी व्यक्ति भी हतप्रभ हो जाता था। उसकी शक्ति केवल एक बार सीदी मौला क सागने कुठित हुई थी। उसकी स्वामि-भक्ति अकु ठित थी। उसके समस्त कार्यों के ताने-बाने के मूल मे उसकी अपरिसीम राजभक्ति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजा सातवाहन की क्रिया-शक्ति का जीवन्त विग्रह था।

बोधा विद्याधर की राजनीति, कूटनीति और रणनीति का व्याख्याता था। भट्टपाद की नीतियो का कुशल क्रियान्वय उसकी सफलता थी। वस्तुतः बोधा ही ऐसा माध्यम था, जिससे विद्याधर सफलता के सोपान पर चढ पाते थे। लेखक ने बोधा के व्यक्तित्व को कुछ रहस्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हाड़-मास का पिंड होने पर भी वह ऊर्जा-मात्र है और उसके शरीर के अश-अश मे मानो मस्तिष्क की ही शिराएँ है, उसका सर्वांग चेतना का ही पुजीभूत रूप है, जड तत्त्व उसमे है ही नही। उसके समस्त पक्षो को देखते हुए ऐसा प्रतिभासित होता है कि शायद उसके शरीर मे हृत्पिड नही है, वह सर्वथा राग शून्य है, किन्तु उसके मन के गहनतम, निभृत कोने मे मैना की मूर्ति विद्यमान रही है, जिसने उसे जागतिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे मानवीय सवेदना से युक्त सिद्ध कर दिया है। बोधा के निर्माण मे लेखक को अच्छी सफलता मिली है।

रानी चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व को लेखक ने बहुत ही आकर्षक और हृद्य बनाया है। वस्तुतः चन्द्रलेखा सौदर्य की प्रतिमान है, 'सुन्दरता को सुन्दर करई', विधाता की अनुपम-अप्रतिम सृष्टि है। लेखक ने अपनी लेखनी की सारी शक्ति लगाकर उसके सौदर्य के समस्त उपादान जुटाए हैं। उसमें जैसा बाह्य सौदर्य है वैसा ही आन्तरिक सौदर्य है : अन्तर्बाह्य का अद्भुत सामजस्य है। कालिदास ने कहा है कि सौदर्य की प्रवृत्ति पाप-वृत्ति की ओर नही होती, उनका यह कथन चन्द्रलेखा के चरित्र पर पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। अन्य रानियो की तुलना मे भी चन्द्रलेखा कुछ अधिक प्रतीत होती है।

वह अहमिका के गुंजलक से आवृत्त नही है। छोटे-बडे सबके प्रति उसमे समभाव है। अपने हृदय की उन्मुक्तता के कारण ही नागनाथ के प्रति करुणार्द्र होकर वह ढरक जाती है और उसकी विकट साधना मे सहयोगिनी बनती है। राजा को जन-जागरण का मन्त्र देकर तथा उन्हे सर्वतोभावेन: सहयोग का आश्वासन देकर भी वह नागनाथ की विकट, कृच्छ्र साधना मे सहयोग देती है। वस्तुत: इस सहयोग के पीछे भी उसकी लोक-मंडल की भावना का प्राधान्य था, क्योकि कोटिवेधी रस के द्वारा वह निखिल लोक का जरा-मृत्यु आदि के बन्धन से सर्वदा के लिए मोक्ष चाहती थी, किन्तु उसकी साधना विफल हो गई, उसका मन कुंठित हो गया तथा द्विधा-विभक्त उसका व्यक्तित्व न तो समग्र भाव से राजा का ही हो सका और न तो तप: साधना मे हो लीन हो सका। उसके मन के किसी कोने मे नागनाथ के प्रति भी कोमल भाव उदित हो गया था, जिसने उसे और कुंठित बनाया। रानी चन्द्रलेखा राजा के लिए प्रेरणा-स्रोत थी, विद्याधर की योजना मे देवी-रूप मे सम्पूजित हो समादृत थी, मैना की शक्ति को उपचीयमान करने मे सहायक थी, परन्तु उसका स्वाभाविक विकास मानसिक ऊहापोह और द्विविधा के कारण प्रतिरुद्ध हो गया। आरभ मे जिस शक्ति-तेज-स्फुलिग रूप में उसकी कल्पना की गई थी, उसका क्रमिक विकास नही प्रस्तुत किया जा सका।

मैना-मैनसिंह-मदनवती इस उपन्यास की अभिराम कल्पना है। वह राजा सातवाहन की साक्षात् क्रिया-शक्ति है। अत्यन्त कमनीय नारी विग्रह मे मानो वीर रस ही अवतरित हो गया है। नारी-सहज लज्जा और व्रीडा के अवगुंठन के भीतर झाँकता वीरदर्प लोमहर्षक प्रतीत होता है। समग्र उपन्यास मे वही ऐसा पात्र है, जिसे तत्कालीन ग्रह-नक्षत्रो की माया ने अभिभूत नही किया, जिसे तान्त्रिक अतिचार ने विजडित नही बनाया और जो परम्परा-प्रवाह से अतीत क्षणो की परम्परा मे, जीवन के वर्तमान मे ही सब कुछ देखने की अभ्यस्त थी। लेखक ने उसका निर्माण ही इस रूप मे किया है मानो वह केवल चेतन-पिड है, जड-तत्त्व से सर्वथा अस्पृष्ट। उसमे जीवन-ज्योति इस रूप मे विलासवती हो उठी है कि उससे विद्याधर भट्ट जैसे समर्थ, अपराजेय व्यक्ति उचित प्रकाश पाते है। उसमे समय को पकड सकने की ऐसी क्षमता है कि सीदी मौला जैसा प्रकृतिस्थ एवं दुरतिक्रम्य व्यक्ति भी अभिभूयमान हो उठता है। उपन्यास मे जहाँ से मैना का प्रवेश होता है और जहाँ तक वह रहती है, उसकी प्रखर ज्योति से सारा वातावरण आपूरित-सा प्रतीत होता है। उसमे जो अहैतुकी सेवा-भावना है, अपने आप को द्राक्षाफल के समान क्षरित कर देने की जो दुर्दमनीय भावना है, जो अपूर्व तेजस्विता-तिग्मता है और अहैतुक सेवा-भाव मे पुष्पवत् मन के बह जाने की आशका को निरस्त करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह सब उसके व्यक्तित्व को महार्घ बना देता है। पूरे उपन्यास मे यही ऐसा भास्वर पात्र है जो पाठको

के हृदय-मन्दिर मे बहुत देर तक अपनी ज्योतिर्मान स्मृति को बनाए रखने मे समर्थ है। यह द्विवेदी जी की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है ।

नाटी माता-नागर-नटी-का सारा वपु ही चतुर चित्रकार के हाथो निर्मित है । लेखक ने उसके प्रत्येक कृत्य मे अपूर्व आभिजात्य भर दिया है । वह भगवद् भक्ति की विग्रह है, कला की देवी है और वाग्देवी सरस्वती की दुहिता है । उसकी प्रत्येक क्रिया उसकी भक्ति-भावना से परिचालित होती है, उसकी प्रत्येक गति नृत्य-कला के साँचे मे ढली प्रतीत होती है और उसकी वाणी से निःसृत प्रत्येक शब्द वाग्देवी के वरदान-सा मृदुता-कोमलता के साँचे मे ढलकर आता है । उसकी अहैतुकी प्रपत्ति-भावना भी अद्भुत है ।

भगवती विष्णुप्रिया के व्यक्तित्व मे भी इसी प्रकार की मृदुता है, किन्तु उसमे वह आभिजात्य नही है जो नाटी माता मे है । अमोघवज्र तात्रिक साधक होते हुए भी यथार्थ दर्शी अधिक है । यही कारण है कि साधनाओ के प्रति विरक्ति व्यक्त करते हुए उसने कर्मण्यता को बढावा दिया है और तांत्रिक आडम्बरो पर कस कर प्रहार किया है । अशोक चल्ल, जल्लन, अक्षोभ्य-भैरव, घु टकेश्वर आदि के व्यक्ति-रूपो को भी लेखक ने पूरी सूक्ष्मता से अकित किया है और वे अपनी विलक्षणताओ-विशेषताओं के कारण सहज रूप मे पहचाने जा सकते हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी इसके अधिकाश पात्र ऐतिहासिक न होकर जन-श्रुति पर आधृत हैं । राजा सातवाहन कभी अवन्तिका का राजा था, इसके सम्बन्ध में इतिहास मौन है । लेखक ने वस्तुतः ऐतिहासिक परिवेश निर्मित कर तत्कालीन जीवन का अत्यन्त सूक्ष्मता से अन्तरग-बहिरग परीक्षण किया है । लेखक का मुख्य लक्ष्य तत्कालीन कुहेलिकाच्छन्न जीवन को वाणी देना था और अपने इस लक्ष्य मे उसे अच्छी सफलता भी मिली है । वस्तुस्थिति तो यह है कि मानवतावादी लेखक उस युग की तांत्रिक साधना, अतिचार, कृच्छ्र तपः साधना, सिद्धियो के प्रति अत्यधिक आस्था और जीवन की जडता से विक्षुब्ध है । उसे दुःख है कि सामान्य जनता कर्म-पथ पर से विश्वास खो चुकी है । धरती की तुलना मे आकाश मे उसका विश्वास अधिक है । वह अपने जीवन को नक्षत्रो से परिचालित मानता है । वह अपनी शक्ति का विश्वास खो बैठा है और इस आशा से निष्क्रिय बना हुआ है कि दैवी शक्ति उसकी अपदशा को दूर कर देगी । जिस समाज का कर्म पर से विश्वास उठ जाता है, उसकी किस रूप मे अधोधः पतन होता है, उस ओर लेखक ने सकेत कर दिया है । लेखक अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में कहता है—'धरती पर विश्वास करो । आकाश के ग्रह धरती के गुलाम हैं ।' समग्र देश मे जो जड़ता, निष्क्रियता व्याप्त है और सिद्धियों के प्रति जो अनावश्यक मोह परिव्याप्त है, लेखक की दृष्टि मे यह देश का दुर्भाग्य है, बहुत बडी विडम्बना है और

इसका मूल्य सभी को चुकाना पडेगा। 'सबको अपने किए का फल भोगना पडता है—व्यक्ति को भी, जाति को भी, देश को भी। कोई नही जानता कि विधाता का कर्म-फल-विधान कौन-सा रूप लेने जा रहा है। सारी दुनिया की चिन्ता छोडो, अपनी चिन्ता करो। भारतवर्ष की धर्म-व्यवस्था मे बहुत छिद्र हो गए हैं।' तापस के माध्यम से लेखक ने देश मे जमी कीट की ओर सकेत किया है। वह धार्मिक आडम्बरो को देश के लिए बहुत बडा अभिशाप समझता है।

लेखक समस्त जन-समूह को दिड्-मूढ़ और भ्रमित पाता है। दैवी शक्तियो के प्रति जन-समूह की आस्था और मोह को वह बहुत बडी विडम्बना समझता था। केवल दैवी शक्तियो का विश्वास मनुष्य को कही का नही छोडेगा। यही कारण है कि सीदी मौला कहता है—'वे मूढ हैं जो भौतिक और दैवी शक्तियो का सामंजस्य नही कर सकते।' केवल दैवी शक्ति पर विश्वास करने वाले धीरे-धीरे आत्म-विश्वास खो बैठते है। यदि आत्मविश्वास नही है तो किसी भी राष्ट्र का भविष्य अधकाराच्छन्न ही माना जाएगा। इसीलिए विद्याधर भट्ट कहता है—'शस्त्र बल से हारना हारना नही है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा-का-सारा देश विदेशियो से आक्रांत हो जाए, मुझे रचमात्र भी चिन्ता नही होगी, यदि प्रजा मे आत्म-विश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।' सिद्धियो के पीछे दौडना केवल मृगमरीचिका है। मनुष्य की सबसे बडी शक्ति उसका चरित्र-बल है। साधना-निरत अमोघवज्र के माध्यम से लेखक ने यह सिद्धात-पक्ष प्रतिपादित किया है—'सिद्धियाँ मनुष्य को कुछ विशेष बल नही देती। एक साधारण किसान, जिसमे दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर भीतर एकाकार है, वह भी बडे-से-बड़े सिद्ध से ऊँचा है। चरित्र-बल समस्त शक्तियो का अक्षय भंडार है। जिस साधना से यह महान् शक्ति-स्रोत सूख जाता है, वह व्यर्थ है।' द्विवेदी जी ने उस समाज को पशु कहा है जिसकी स्वतत्र इच्छा समाप्त हो जाती है। जो रूढ़ियो, आप्त वाक्यो और शास्त्र-विधानो के द्वारा चलाया जाने लगता है। व्यक्ति की पशुता से कही अधिक भयकर होती है समाज की पशुता। भारतवर्ष का वर्तमान समाज इसी पशुता का शिकार है; वह सामाजिक स्वाधीन चिन्तन खो चुका है।' उन्होने तत्कालीन सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे जो निष्कर्ष निकाला है, वह आज के भी सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे लागू किया जा सकता है। वस्तुतः 'चारु-चन्द्रलेख' चिन्तन-प्रधान उपन्यास है और इसमे आद्यन्त भास्वर विचार-कणिकाएँ बिखरी हुई हैं जो एक ओर तत्कालीन जीवन से सम्बद्ध हैं तो दूसरी ओर हमारे वर्तमान जीवन की ओर भी सकेत करती है। इस उपन्यास के कथानक के बिखराव के कारण केन्द्रापसारी प्रवृत्ति आ गई है। उद्भावित अवान्तर प्रसगो ने कथा के प्रवाह को शिथिलित कर दिया है, किन्तु लेखक की लेखनी

मे इतनी शक्ति है कि वह इस उपन्यास के पाठक को बरबस अपनी ओर खीच लेता है और पाठक मत्रमुग्ध-सा उपन्यास के प्रवाह मे प्रवाहित हो उठता है । यह लेखक की अपूर्व सफलता है ।

इस उपन्यास का अभिव्यजन-कौशल विशद और अनाडम्बर है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की अभिव्यजना-प्रणाली सायास प्रतीत होती है, किन्तु इसमे अभिव्यजना-प्रणाली सहज-स्वाभाविक है । भाषा भी प्राजल, स्वाभाविक और प्रसगानुकूल है । कथावस्तु के केन्द्रीय प्रभाव की दृष्टि से उपन्यास कमज़ोर है, परन्तु चिन्तन-पक्ष, सास्कृतिक प्रवृत्तियो के विश्लेषण-मूल्याकन और अनवद्य रचना-कौशल की दृष्टि से इसे सशक्त रचना कहा जा सकता है ।

अपने अपने अजनबी

प्रयोग की दृष्टि से अज्ञेय का प्रत्येक उपन्यास अपना महत्त्व रखता है। 'अपने अपने अजनबी' में उन्होंने पाश्चात्य जीवन की उस विभीषिकामयी स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है जिससे वहाँ का साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति आक्रांत है और जिसमें अपने-अपने भी अजनबी जैसे प्रतिभासित होते हैं। प्रकाशकीय वक्तव्य में ऐसा कहा गया है कि 'मृत्यु से साक्षात्कार' को विषय बनाकर मानव के जीवन और उसकी नियति का इतने कम और इतने सरल शब्दो मे ऐसा मार्मिक और भव्य विवेचन शायद ही कोई दूसरा लेखक कर सकता था। 'अश्क' इस उपन्यास को 'योरोपीय सभ्यता पर व्यंग्य' मानते हैं और विश्वम्भर 'मानव' इसे मृत्यु के साक्षात्कार का उपन्यास न कह 'यूरोप के जीवन पर, जहाँ आत्मीयता की भारी कमी है, गहरा व्यंग्य' मानते हैं।[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ० रघुवंश इस उपन्यास मे अस्तित्ववादी प्रतिमानों का प्रयोग तो मानते हैं, किन्तु वे इसे अस्तित्ववादी उपन्यास नही कहते।[2] गंगाप्रसाद पांडेय के अनुसार 'इस उपन्यास मे यास्पर्स का चिंतनशील शुद्ध अस्तित्ववाद नही है। लेकिन इसमें सार्त्र के विकृत अस्तित्ववाद का प्रतिपादन अवश्य हुआ है।'[3] डॉ० देवराज ने इस उपन्यास को अस्तित्ववादियो के से अतिशयित अथवा अतिरंजित स्थितियो के साहित्य (लिट्रेचर ऑव एक्स्ट्रीम सिचुएशन्स) की कोटि मे रखा है।[4] वस्तुतः लेखक ने इस उपन्यास मे अस्तित्ववादी दृष्टि को ही रूपायित करने का प्रयत्न किया है। यह दूसरी बात है कि इस प्रयत्न मे उसे यथेष्ट सफलता नही प्राप्त हो सकी है।

---

१. माध्यम (अक्टूबर, १९६४), पृष्ठ ९३।
२. माध्यम,, पृष्ठ ८२-९०, ९३।
३. माध्यम,, पृष्ठ ९०।
४. हिन्दी वार्षिकी १९६१, पृष्ठ १३३।

'अपने अपने अजनबी' लेखक की सहज अनुभूति से निष्पन्न उपन्यास नही है, वरन् इसमे लेखक आरोपित अनुभूति को लेकर चला है। यही कारण है कि इस उपन्यास मे आद्यन्त सहजता नही है। पश्चिम का जीवन वैयक्तिक सम्बन्धो की विरलता के कारण हिमावृत उस काठघर के जीवन के समान है जिसमे दो प्राणी परिस्थितिवश बन्द होने के लिए विवश हो गए है, किन्तु वे दोनो अपने चारित्रिक-वैशिष्ट्य के कारण एक दूसरे से अजनबी है और अजनबी बने रहना चाहते है। लेखक ने हिमावृत काठघर और प्लावनग्रस्त धनुषाकार पुल की योजना प्रतीकात्मक रूप मे इसी तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए की है। अस्तित्ववाद का चरम विकास दो महायुद्धो की विभीषिकामयी स्थिति मे हुआ है। यही कारण है कि उसमे विवशता और नैराश्य का स्वर मुखर है और मृत्यु की अनिवार्यता के कारण मानव की असहाय स्थिति का अत्यन्त मार्मिक विवेचन है। मनुष्य का अस्तित्व मृत्यून्मुख है। कोई उसे बचा नही सकता। इस निराशामयी स्थिति मे वह अपनी सत्ता महाशून्य में उछाली हुई पाता है। लेखक ने 'अपने अपने अजनबी' मे उसे केन्द्रानुभूति के रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

अस्तित्ववाद मे अस्तित्व तत्त्व का पूर्ववर्त्ती है। मानव-स्वभाव जैसी वस्तु अस्तित्ववादी को स्वीकार नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्माण स्वय करता है। सार्त्र के अनुसार "मानव स्वभाव का कोई अस्तित्व नही है, क्योकि मानव-स्वभाव के सामान्य प्रत्यय के निमित्त ईश्वर नाम की कोई सत्ता नही है। मनुष्य साधारण रूप में है। केवल इतना ही नही कि वह स्वय जो होने का विचार करता है, वही वह है, अपितु वह वह है जो होने की इच्छा वह करता है और अस्तित्व के अनन्तर वह स्वय जो होने का विचार करता हे। मनुष्य अपने आपको जो बनाता है, उसके अतिरिक्त वह और कुछ नही है।" सार्त्र के इस दृष्टिकोण से यह बात स्पष्ट होती जाती है कि अस्तित्ववादी मानव-विकास को स्वीकार नही करते। अज्ञेय को अपनी औपन्यासिक सघटना मे ऐसे स्थल नही मिले है जहाँ वे इस दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा करते, किन्तु प्रकारातर से उन्होने इस पर प्रकाश डाला है। योके ठिठके हुए नि.सग जीवन के सम्बन्ध मे सोचती हुई कहती है—"एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण मे मैं जी रही हूँ—जीती ही जा रही हूँ—और वह क्षण जरा भी नही बदलता, टस से मस नही होता है! क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नही हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते है? अँधेरे मे भी अंकुर मिट्टी के भीतर ही भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढा होकर भी सूरज की ओर ही मुडता है।"[1] यहाँ पर विकास का निषेध और मानवीय जीवन की विवशता दिखाना ही लेखक को

१. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ १८।

अभीष्ट है। मानव जीवन की विवशता की ओर सकेत करते हुए सार्त्र कहते है— 'सभी जीवित प्राणी अकारण ही उत्पन्न हुए हैं, अपनी दुर्बलता के माध्यम से जीते हैं और अकस्मात् मर जाते है।……मनुष्य एक निरर्थक आवेग है। यह निरर्थक है कि हम उत्पन्न हुए है, यह निरर्थक है कि हम मर जाते है।'

अस्तित्ववाद अह .केन्द्रित दर्शन है। अस्तित्ववादी बडी प्रबलता के साथ यह अनुभूत करता है कि 'मैं हूँ।' सार्त्र ने 'मैं हूँ' के समाजीकरण का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार 'मनुष्य दूसरो के माध्यम से ही अपने आपको जानता है। उसके अस्तित्व के लिए दूसरे का अस्तित्व अनिवार्य है।' इस प्रकार मनुष्य को 'मैं हूँ' की अनुभूति के लिए दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करना पडता है। 'मैं हूँ' की अनुभूति सह अस्तित्व की भावना मे उतनी प्रबलता के साथ नही हो सकती जितनी प्रबलता के साथ विरोध की स्थिति मे होती है। इसी कारण अस्तित्व के अतिरेक को स्वीकार करने वाले विरोधात्मक स्थिति को दृढता के साथ अपना लेते हैं। 'अपने अपने अजनबी' मे योके के मन मे सेल्मा के प्रति बार-बार विरोध भाव उत्पन्न होता है और उसका विरोध भाव जितना प्रबल होता है, उसका अपने अस्तित्व के प्रति मोह उतना ही प्रबल और दृढ हो जाता है। इसी कारण वह विरोध को कसकर पकडे रहना चाहती है। यहाँ तक कि उसका विरोध चरम विसगति का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार सेल्मा के मन मे भी यान के प्रति विरोध भाव उमड आता है और वह चरम सीमा तक इस विरोध को दृढ बनाए रखती है। अह केन्द्रित भाव और विरोध के कुछ उदाहरण देखिए—

"सेल्मा को एकाएक ऐसा लगा कि दुनिया का मतलब और कुछ नही है सिवा इसके कि एक वह है और बाकी ऐसा सब है जो कि वह नही है और जिसके साथ उसका केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र ध्रुवता है जिसे उसे कसकर पकडे रहना है, जिसे पकडे रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढाना है।"[1]

"लेकिन इस तरह वह नही छोडेगी, कभी नही छोडेगी! विरोध—एक मात्र ध्रुव—जीवन का सहारा..."[2]

"दाम माँग का है, माँग विरोध की स्थिति से उत्पन्न होती है, विरोध ध्रुव है और उसे पकडे ही रहना है..."[3]

---

१. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ८२।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ९०।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ९१।

दूसरो की उपस्थिति मे अपने अस्तित्व को बोध बडी तीव्रता से होता है और विरोध की स्थिति मे तो अपने अस्तित्व के प्रति सजगता और अधिक बढ जाती है। सेल्मा इसी विरोध को स्थिति मे अपने अस्तित्व के प्रति सजग है; किन्तु उसे अपने अस्तित्व के साथ ही साथ यान के अस्तित्व का बोध होता रहता है। उससे अपमानित होने पर उसके मन मे प्रतिशोध का भाव जागृत अवश्य होता है, पर वह प्रतिशोध लेने मे समर्थ नही हो पाती। उसकी कृपणता, उसका मोह और विरोध के लिए उसका विरोध बढता ही जाता है और अतिरेक पर पहुँच जाता है। अपनी इन्ही भावनाओ के कारण उस धनुषाकार पुल पर वह अपने आपको नितात अकेली पाती है। अकेलेपन की विवशता भी अस्तित्ववादी दृष्टि की एक विशेषता है। यान के इस कथन से इस बात की पुष्टि हो जाती है—

'मरेगा तो शायद हम दोनो मे से कोई नही—तुम्हारी हरकत के बावजूद अभी तो नही लगता कि मैं मरने वाला हूँ। लेकिन अगर सचमुच यह बाढ ऐसी ही इतने दिनो तक रही कि मैं भूखा मर जाऊँ, तो तुम बचकर कहाँ जाओगी ? बल्कि अकेली तो तुम अब भी हो, जबकि मैं नही हूँ। और शायद मर ही चुकी हो—जब कि मैं अभी जिन्दा हूँ।'

यान के मन मे सेल्मा के प्रति कोई विरोध भाव नही है। हाँ, उसके व्यवहार के कारण उसके प्रति घृणा जरूर है। किन्तु सेल्मा अपने विरोध-भाव के कारण पूर्णतया भिन्न स्थिति मे है। उसकी अपने निजी अस्तित्व के प्रति सजगता जहाँ उसके निजी अस्तित्व को अधिक प्रखर बना देती है, वही दूसरे के अस्तित्व के तिरस्कार के कारण उसका अकेलापन और अधिक घनीभूत हो जाता है। विरोधभाव के साथ अकेलेपन की अनुभूति उसे अत्यन्त व्यापक धरातल पर होती रही है। इनके अतिरिक्त सेल्मा के पूर्वपक्ष मे दूसरा कोई अस्तित्ववादी तत्त्व दृष्टिगत नही होता। उसने अपनी इन्ही दोनो भावनाओ के कारण अत मे जीवन से समझौता कर लिया। यान के साथ विवाह कर लिया। लेखक ने उसके जीवन के इस पक्ष को बहुत ही सुन्दर शब्दों में अकित किया है—

'नही, अन्त वहाँ पुल पर नही था, अन्त यह था जो कि नया आरभ था—अंधी गली वह नही थी, मोड का कोई सवाल ही नही था क्योकि रास्ता ही नहीं था, क्योकि यह आरभ तो खुला आकाश था…जिसमें से एक नया जीवन उपजा—एक नया अनुभव, एक नयी गृहस्थी, तीन सताने; सुख-दुःख के साझे का एक जाल जिसमे जीवन की अर्थवत्ता के न जाने कितने पछी उन्होंने पकडे…फिर वह दिन आया कि यान नही रहा; पर वह अर्थवत्ता नही मिटती, पाए हुए सारे अर्थ चाहे छिन जावे। जीवन सर्वदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन देकर खरीदा गया है और

जीवन जलाकर पकाया गया है और जिसका साझा करना ही होगा क्योंकि वह अकेले गले से उतारा ही नही जा सकता—अकेले वह भोगे भुगता ही नही।'

यह जीवन का स्वस्थ पक्ष है। अस्तित्ववादी रचनाओ में जीवन का ऐसा पक्ष दृष्टिगत नही होता। परमशून्यता या कुछ न होने के भाव को अपनाकर चलने के कारण अस्तित्ववादी सर्जक अपने साहित्य मे विसगतियो को अतिप्रमुखता प्रदान करते हैं तथा जीवन के जुगुप्सित पक्ष के चित्रण मे अधिक रस लेते हैं। किन्तु सार्त्र आदि सैद्धातिक रूप मे जीवन के स्वस्थ पक्ष को स्वीकार करते हैं।

निरपेक्ष अस्तित्ववादी ईश्वर को स्वीकार नही करते। किर्केगार्द ईश्वरवादी थे। इस कारण उनमें आस्था थी, किन्तु निरपेक्ष अस्तित्ववादी ईश्वर को नकारने के कारण आस्था विहीन हैं। किर्केगार्द के अनुसार मनुष्य ईश्वर से पृथक् कर दिया गया है। इस कारण मनुष्य को गहन गर्त्त मे कूदने का खतरा मोल लेना चाहिए। ईश्वर और मनुष्य के बीच जो बहुत बडा व्यवधान है, उसके कारण मनुष्य अपने प्रयत्न से न तो शिव ही प्राप्त कर सकता है और न तो आस्था ही। इस कारण उसे अज्ञात में कूदने का खतरा उठाना चाहिए। अनीश्वरवादी इस व्यवधान को शून्यता-पूर्ण शून्यता की सज्ञा दे देता है, क्योकि वह ईश्वर को स्वीकार नही करता : इस प्रकार शून्यता—कुछ न होने का भाव—केन्द्रीय अनुभूति हो जाती है। अतः इसे आवेग के साथ अपना लिया जाता है। मनुष्य अज्ञात मे कूदने का खतरा उठाने के स्थान पर स्वयं अपने को शून्यता मे निमज्जित कर देता है। उसे सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है और अनास्था को अपनाते हुए वह भय और कम्पन का अनुभव करता है।

'अपने-अपने अजनबी' के 'योके और सेल्मा' अध्याय में योके और सेल्मा के व्यक्तित्व और अनास्था तथा आस्था का संघर्ष दिखाया गया है। सेल्मा ईश्वर मे आस्था रखती है। यह आस्था उसके लिए सहज सात्वना नही है; भय और कम्पन है, किन्तु योके की अनास्था जगत् की चरम निरर्थकता के कारण उसमें भय और कपन उत्पन्न करती है। भय और कपन की अनुभूति दोनो को होती है, किन्तु दोनो के परिप्रेक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। सेल्मा ईश्वर और अपने बीच के व्यवधान से जन्य नैराश्य से पीडित है, जबकि योके महाशून्यता जन्य नैराश्य से पीडित है। सेल्मा इस व्यवधान को मिटाने के लिए अज्ञात में कूदने का खतरा मोल ले सकती है, किन्तु स्वय अपने को इस शून्यता मे निमज्जित कर देती है। नैराश्य और निरर्थकता के अतिरिक्त और कुछ उसे दृष्टिगत नही होता।

सेल्मा—'लेकिन खतरे के आकर्षण मे बहुत कुछ सह लिया जाता है—

डर भी ।'[1]

'निरे अजनबी डर के साथ कैद होकर कैसे रहा जा सकता है ? नही रहा जा सकता ।...मैं तो अजनबी डर की बात कह गई...अभी तो हम-तुम भी अजनबी स है, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर ले ।'

कुछ न होने का भाव—'हम पहचानते है अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अतिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नही है और न कोई आगे जवाब ही......इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है । पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है ।'[2]

'न होना । न होना...होना, न होना ! होना और न होना—और एक साथ ही होना और न होना......।'[3]

शून्यता की स्वीकृति के साथ निरपेक्ष अस्तित्ववादी विसगति को स्वीकार कर लेता है । योके के चरित्र तथा उसके व्यवहार मे आद्यत इस प्रकार की विसगति मिलेगी । इसी विसंगति को देखकर कुछ आलोचको ने योके को न्यूरॉटिक सिद्ध किया है, किन्तु वह न्यूरॉटिक नही है । महाशून्यता मे समग्र भाव से निमज्जित हो जाने के कारण नैराश्य जनित मनःस्थिति उसे ऐसा व्यवहार करने के लिए विवश बना देती है और उसके चरित्र तथा व्यवहार मे अनेक प्रकार के विरोधात्मक तत्व समाहित हो जाते हैं । जबकि सेल्मा के चरित्र मे जो विरोधात्मकता मिलती है वह मात्र व्यवधान जनित विकलता या निराशा का प्रतिफल है । वह इस नैराश्य से विजित नही होती, अपितु उसका सामना करने के लिए तत्पर रहती है, जबकि नैराश्य मे सर्वथा निमज्जित हो जाने के कारण योके को सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है । वह अपने आपको सभी प्रकार से असहाय पाती है । दोनो मे जो अतर है वह योके के निम्नलिखित चितन से स्पष्ट हो जाता है—

'और ठीक यही पर फ़र्क है । वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जिए जा रही है । और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मारना चाह रही हूँ ।'[4]

नैराश्य का यह सतत संवृहण और मृत्यु का चिंतन योके को सर्वथा दुर्बल बना देता है । उसे चतुर्दिक् यथार्थ के रूप मे मृत्यु ही दिखाई देती है ।

---

१. अपने अपने अजनबी, पृ० १० ।
२. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५४ ।
३. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५६ ।
४. अपने अपने अजनबी, पृ० ३८ ।

'शायद यही वास्तव मे मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नही, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का वह विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमे कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है।'[१]

'अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नही है कि गाने से उसका स्वागत किया जाए।'[२]

निरपेक्ष अस्तित्ववादी सबसे अधिक ज़ोर मृत्यु पर ही देते हैं। किर्केगार्द भी मृत्यु पर ज़ोर देते हैं, पर निरपेक्षवादियो के समान नही। किर्केगार्द के लिए 'हमारा जीवन मृत्यून्मुख अस्तित्व है, ऐसी रुग्णता है जो अनिवार्यतः मृत्यु की ओर ले जाती है।' उनके लिए यह एक चुनौती है, जिसकी अनिवार्यता का ज्ञान हमें इन्द्रियातीत पर अपनी दृष्टि जमाने के लिए विवश कर देता है, किन्तु निरपेक्षवादी मृत्यु के सतत चिंतन के कारण अभावात्मक दृष्टि अपना लेते हैं। उनके लिए सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है। सेल्मा और योके मे भी यही अतर है। सेल्मा विवशता की इस स्थिति मे ईश्वर को ओढ लेना चाहती है, जबकि योके के लिए मृत्यु ही ईश्वर है।

'हाँ योके, मैं भगवान् को ओढ लेना चाहती हूँ। पूरा ओढ लेना कि कही कुछ उघडा न रह जाए।'[३]

योके—'मैं अगर ईश्वर को नही मान सकती तो नही मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यो मानूँ? मैं मृत्यु को नही मानती, नही मान सकती, नही मानना चाहती! मृत्यु एक झूठ है, क्योकि वह जीवन का खडन है।'[४]

मृत्यु का सतत चितन उसे मृत्यु को नकारने की स्थिति मे ले आता है, किन्तु इस नकार मे मृत्यु की और भी स्वीकृति निहित है। उसे चतुर्दिक् निरर्थकता ही निरर्थकता प्रतीत होती है और वह अपने समग्र अस्तित्व को सर्वथा मृत्यून्मुख पाती है। उसका यथार्थ रूप सेलमा की मृत्यु के अनन्तर देखा जा सकता है, जबकि सर्वत्र उसे मृत्यु की गध परिव्याप्त दिखाई देती है—

'व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गध नही दबती, न दबेगी, सब जगह फैली हुई है, सब कुछ मे बसी हुई है। सब कुछ मरा हुआ है, सड रहा है, घिनौना है—बेपरवाह...'[५]

---

१. अपने अपने अजनबी, पृ० १८।
२. अपने-अपने अजनबी, पृ० ३४।
३. अपने-अपने अजनबी, पृ० ४२।
४. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५५।
५. अपने-अपने अजनबी, पृ० १०७

'केवल मृत्यु की प्रतीक्षा—मरने की प्रतीक्षा—सड़ने और गधाने की प्रतीक्षा...वह गध पहले ही सब जगह और सब कुछ मे है और हम सर्वदा मृत्यु-गध से गन्धाते रहते है ।'[1]

जन्म और मृत्यु दोनो रहस्यात्मक होते है । जन्म के रहस्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम अपने अस्तित्व को वरण करने मे स्वतन्त्र नही है । यह हमारे लिए आरोपित है, किन्तु अस्तित्ववादी अस्तित्व की पूर्ववर्तिता को सगत सिद्ध करने के लिए इसे अपना ही वरण सिद्ध करते हैं । अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते है कि हम जीने के लिए विवश है और हम मरने के लिए विवश हैं । हम इस संसार में असहाय छोड दिए गए है । सार्त्र के अनुसार 'मेरा भय स्वतत्र है, वह स्वतत्रता का प्रकाशन है । मैं अपनी स्वतत्रता को भय मे रख देता हूँ और इस प्रकार मुझे स्वतत्रता प्राप्त है ।' इस प्रकार अस्तित्ववादी भय और विवशता को भी अपनी स्वतत्रता स्वीकार कर लेते है । लेखक ने 'अपने अपने अजनबी' मे इस विवशता पर अच्छा प्रकाश डाला है । सेल्मा की अकेले रहने की भावना जानकर योके ने उससे कहा था—

'अगर वैसा है तो मुझे दु:ख है, पर मेरी लाचारी है । यह तो कह नही सकती कि मैं अभी चली जाती हूँ । वह मेरे बस का होता—'[2]

वह कितनी विवश है कि वह सेल्मा के अकेले रहने की भावना का सम्मान करने मे भी समर्थ नही है ।

मनुष्य अपने ऐतिहासिक परिवेश मे फेक दिया गया है । वह कुछ भी अपनाने के लिए स्वतत्र नही है । सेल्मा कहती है—

'और स्वतत्रता—कौन स्वतंत्र है ? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नही रहेगा ? मैं क्या स्वतंत्र हूँ कि मैं बीमार न रहूँ—या कि अब बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतत्र हूँ कि मर जाऊँ ।'[3]

सेल्मा अपनी ऐतिहासिक स्थिति को स्वीकार कर लेती है । इस कारण उसकी स्वतत्रता की कल्पना देश-कालसापेक्ष है, किन्तु निरपेक्ष अस्तित्ववादी ऐतिहासिक स्थिति के स्थान पर नैराश्य को स्वीकार करते है और नैराश्य तथा भय मे ही अपनी स्वतत्रता प्रक्षेपित कर देते है ।

योके की दृष्टि मे भी 'कही वरण की स्वतंत्रता नही है । हम अपने बधु का वरण नही कर सकते—और अपने अजनबी का भी नही......हम इतने भी स्वतत्र

---

१. अपने-अपने अजनबी, पृ० १०८ ।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २६ ।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ४७ ।

नही है कि अपना अजनबी भी चुन सके ।'[1]

मानव जीवन विवशता और लाचारी का जीवन है । मनुष्य की सत्ता महाशून्य मे उक्षिप्त है जहाँ वह कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र नही है । स्वतंत्र होने के लिए विवश है क्योंकि वह बेपनाह है ।

अस्तित्ववाद मे क्षरण का महत्त्व है—अनुभूत क्षण का, काल की अबाध परम्परा का नही । 'अपने अपने अजनबी' मे लेखक ने अनेक स्थानो पर अनुभूत क्षरण की व्याख्या की है ।

'हमारे लिए समय सबसे पहले अनुभव है—जो अनुभूत नही है वह समय नही है ।'[2]

'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है । इस सदर्भ मे 'क्षरण' वही है जिसमे अनुभव तो है लेकिन जिसका इतिहास नही है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नही है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के ससर्ग से अदूषित, ससार से मुक्त ।'[3]

इसके साथ ही अस्तित्ववादी अनुभूति को केवल अनुभूति को सचाई मानते है । जो अनुभूत नही है उसे सामान्य प्रत्यक्ष के रूप मे वे स्वीकार नही कर सकते ।

'क्या 'वह है' और 'मैं हूँ' ये दोनो बुनियादी तौर पर अलग-अलग ढग के, अलग-अलग जाति के, अलग-अलग दुनियाओ के ही बोध नही हैं ? 'वह है' के जोड का बोध यह भी है कि 'वह नही है', लेकिन 'मै हूँ' के साथ उसका उलटा कुछ नही है; 'मैं नही हूँ' यह बोध नही है बल्कि बोध का न होना है ।'[4]

'दुःख और कष्ट की बात—लेकिन दुःख और कष्ट सच कैसे है अगर उनका बोध ही नही है ।'

ईश्वर भी स्वेच्छाचारी नही है । वरण की स्वतत्रता किसी को नही है और वरण न करने की स्वतंत्रता भी किसी को नही है । सभी जीने और मरने के लिए विवश है । योके ने आत्महत्या के रूप मे मृत्यु का वरण किया, पर क्या यह उसका

---

१. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ११४ ।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २३ ।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २३ ।
४. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ५५ ।

वरण था अथवा परिस्थिति जन्य विवशता ? जर्मन सैनिको ने उसकी अन्तरात्मा को आन्दोलित कर दिया। उनके दुर्व्यवहार ने उसकी जिजीविषा समाप्त कर दी। जर्मनो की वेश्या, यह रूप उसे कितना कुत्सित और बीभत्स प्रतीत हुआ। उसने इस प्रकार के जुगुप्सित जीवन से मृत्यु का वरण पसन्द किया। वैसे अस्तित्ववादी के सामने नैतिकता का कोई प्रश्न नही है। कामू ने कहा है—यदि हम किसी वस्तु पर विश्वास नही करते, यदि किसी वस्तु का कोई मूल्य नही है और यदि हम कोई मूल्य स्वीकार नही करते तो प्रत्येक बात सभव है और किसी वस्तु का कोई महत्त्व नही है। हत्यारा न तो बुरा है और न तो अच्छा है। असत्-सत् मात्र सयोग या सनक है।' किन्तु योके इस सीमा तक अस्तित्ववादी नही है। इसी कारण अपमानित-जुगुप्सित जीवन की अपेक्षा मृत्यु को उसने अंगीकार किया।

अज्ञेय ने एक स्थान पर जीवन की विवर्द्धमान शून्यता एव जीवन के विघटित मूल्यो का बहुत ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है—

'अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजे, अजनबी मुद्राएँ और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नही है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियो और सस्कारो का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।'

वस्तुतः मानव की वैयक्तिकता सामूहिक जीवन मे बहुत बडा व्याघात उपस्थित करती है। अस्तित्ववाद वैयक्तिक अनुभूति को ही सार्थक मानता है और कुछ न होने के भाव को अपनाकर जीवन के समस्त मूल्यो को विघटित कर देता है। इस स्थिति मे व्यक्ति व्यक्ति के लिए अजनबी-सा ही रह जाता है और मानवीय भाव सहानुभूति, करुणा, ममता आदि के स्रोत सूख जाते है।

अन्त मे जगन्नाथन् से सान्निध्य मे योके की मृत्यु दिखाकर लेखक ने सभवतः भारतीय दर्शन की यह विशिष्टता दिखानी चाही हो कि एक सामान्य भारतीय के लिए जीवन और मरण उस रूप मे पहेली नही है जिस रूप मे एक सामान्य यूरोपीय के लिए। भारतीय के लिए दोनो की सार्थकता है। अतः वह मृत्यु के सतत चिंतन मे लीन रहकर निष्क्रिय नही हो पाता, वरन् उसकी अनिवार्यता को जानते हुए ललक के साथ जीवन को अपनाता है।

इस उपन्यास की शैली मे भी एक विशेष प्रकार की शिथिलता है, एक विशेष प्रकार की मथरता है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षण-क्षण प्रवाही जीवन-सलिल सतह की कंकडियो से टकरा-टकरा प्रवाहित होता रहता है, रुक-रुक कर, थम-थम कर, क्योंकि भय है कि कही आगे बढने पर सतह मे ककडियो के स्थान पर शोषक

सिकता की ढेरी न आ जाए जिसमें जीवन-सलिल अपने अस्तित्व को ही खो दे। आशा और आस्था का स्वर नही है। इसी कारण एक-एक वाक्य उखड़ा-उखडा है और लेखक इस कारण अपने पात्रों को जीवंत भी नही बना सका है। दोनो प्रमुख पात्र नियति की पुत्तलिकाएँ हैं।